हिंदी-गद्य के युगनिर्माता

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
हिंदी-विभाग
काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय

प्रकाशक —
सरस्वती-मंदिर
जतनबर, काशी

प्रथम संस्करण : १०००
मूल्य : २॥।)

मुद्रक —

दो शब्द

प्रस्तुत रचना में कुछ पुराने और कुछ नए लेखों का संग्रह है। नए लेख विषय को संबद्ध एवं पूर्ण बनाने के अभिप्राय से ही लिखे गए हैं। इस प्रकार विषय का प्रसार परिमित होने पर भी अपने ढंग से पूर्ण बन उठा है। 'प्रसाद' जी की कहानियों और तितली उपन्यास पर कुछ लिखना चाहता था पर हो नहीं सका। अतएव चर्वित-चर्वण के लिए विवश हो गया। अवश्य ही वांछित समीक्षा तैयार होने पर द्वितीय संस्करण में जोड़ दी जायगी और तभी इस चर्वण-दोष का परिहार हो सकेगा। 'गोदान' का भी केवल विषय-स्थापन भर हो सका है। पल्लवन की क्रिया भविष्य पर छोड़ दी गई है। इसी प्रकार अन्य स्थलों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

रही बात समीक्षा-पद्धति की, तो उसके विषय में केवल इतना ही कहकर रुक जाता हूँ कि यह आलोचना का युग है और आलोचना के अनेक प्रकार-भेद हैं। उन भेदों के स्वरूप-संघटन में समीक्षक की अपनी पकड़ का होना नितांत आवश्यक है। इसके अभाव में सारी समीक्षा ही हवाई तर्ज़ की हो जाती है और इस तर्ज़ का अध्ययन-अध्यापन के विचार से विशेष महत्त्व नहीं होता।

अंत में मुझे प्रसन्नता होती है यह स्वीकार करने में कि रचना को इस रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा मेरे मित्र पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने की और उन्होंने ही छपने-छपाने की पूरी व्यवस्था की। इस सहृदयता के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ; पर ऐसा तो अनेक बार कह चुका हूँ।

औरंगाबाद, काशी
९—७—१९५०

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

There are a sort of blundering, half-witted people who make a great deal of noise about a verbal slip.

—J. Dryden : Preface to the Second Part of Poetical Miscellanies.

To expose a great man's faults, without owning his excellencies, is altogether unjust and unworthy of an honest man.

—T. Rymer : The Impartial Critic.

Whoever thinks a faultless piece to see, thinks what ne'er was, nor is, nor e'er shall be.

—A. Pope : Essay on Criticism.

कुछ प्रमादी और मंदमति लोग ऐसे होते हैं जो किसी वाचिक भूल चूक पर भी बड़ा कोलाहल मचाते हैं।

—ड्राइडन

किसी महान् व्यक्ति की गुणसंपदा का स्वीकार किए बिना उसके दोषों को विवृत करना सर्वथा अनुचित और सत्यशील व्यक्ति के अनुपयुक्त है।

—राइमर

जो कोई भी दोषरहित रचना देखने की कल्पना करता है वह ऐसी वस्तु की कल्पना करता है जिसका अस्तित्व न था, न है और न कभी होगा।

—पोप

सूची

आमुख

भारतेंदु हरिश्चंद्र के पूर्व खड़ी बोली अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर मँज चली थी। भारत के संपूर्ण उत्तराखंड में उसका प्रसार हो गया था। साहित्य-सर्जन का भी अंकुरण हो चुका था। केवल कथा-कहानी और इतिहास की ही रचना नहीं हो रही थी वरन् शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ भी प्रकाशित हो रही थीं। बनारस अखबार, सुधाकर, बुद्धिप्रकाश और प्रजाहितैषी ऐसे पत्र भी प्रकाशित हो चुके थे। इस प्रकार गद्य-निर्माण का कार्य आरंभ हो चुका था पर अभी तक उसका अटूट और पूर्णतया व्यवस्थित संघटन नहीं हो पाया था। भाषा के विषय में भी संघर्ष उठ खड़ा हुआ था। दोनों राजाओं की दलादली और शिक्षा के क्षेत्र में शासकों की भेदनीति के कारण उसकी एकस्वरता और एकरूपता में संदेह उत्पन्न होने लगा था। इसलिए भारतेंदु के रचनाकाल में दो समस्याएँ खड़ी हुईं—साहित्य-निर्माण की व्यवस्था और भाषा-परिष्कार का प्रयत्न।

अपने जीवन के लघु प्रसार में इन दोनों दिशाओं में जो कुछ हरिश्चंद्रजी ने किया वह किसी ने भी किसी युग और साहित्य में नहीं किया होगा। आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रवर्तन और उसकी अपनी परंपरा के संघटन में जो योग उन्होंने दिया वह सामान्यतः अलौकिक सा दिखाई पड़ता है। दलादली से पूर्ण हिंदी-उर्दू का जो संघर्ष उनके समय तक बढ़ता चला आया था उसकी ओर उनका ध्यान पहले गया और उन्होंने अपने सक्रिय प्रयोगों से हिंदी भाषा की एक रूपरेखा स्थिर की, साहित्य की विविध रचनाओं में स्वयं प्रयोग करके उसके स्वरूप का पूरा परिष्कार कर दिया। तत्कालीन लेखकों का जो एक मंडल साहित्य-सर्जन में संलग्न था वह हरिश्चंद्र की भाषा को आदर्श मानता था। उस समय प्रकाशित होनेवाले अनेकानेक पत्रों और पत्रिकाओं में इसी भाषाशैली का प्रयोग होता था। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि 'जब भारतेंदु

अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया।'

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मण सिंह के द्वारा अथवा उनके काल में ही साहित्य की सृष्टि आरंभ हो चुकी थी। कथा-कहानी और नाट्य-रचनाएँ सामने आ चुकी थीं। इस प्रकार मार्ग का संकेत मिल चुका था, अवश्य ही वह आमुख-रूप मे था और उसकी रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं हो पाई थी, अपने युग के कर्णधार और साहित्यिक नेता के रूप में जब भारतेंदुजी आगे आए तो उन्होंने भली भाँति समझ लिया कि जब तक साहित्य-सर्जना का कार्य आंदोलन-रूप में न चलाया जायगा तब तक न तो समाज में हिंदी-साहित्य का प्रभाव ही बढ़ेगा और न गद्य-रचना की नींव ही सुदृढ़ होगी। इसीलिए उन्होंने केवल स्वयं लिखने का बीड़ा ही नहीं उठाया वरन् ढूँढ-खोज कर लिखने-पढ़नेवालों की एक बड़ी मंडली एकत्र की और तत्कालीन हिंदी की संपूर्ण लीलाभूमि से अपना नाता बनाए रखने की पूरी तत्परता दिखाई। परमात्मा की देन की तरह उनकी कुशल बुद्धि ने अवसर की गतिविधि को समझा और देख लिया कि उस समय सैनिक की नहीं, सेनापति की आवश्यकता थी।

फिर तो युगधर्म के अनुरूप चलकर कोई भी नेता सफलता प्राप्त कर लेता है। भारतेंदु के जीवनकाल में ही हिंदी के प्रसार एवं प्रचार का भव्य रूप दिखाई पड़ गया। लाहौर से लेकर कलकत्ता तक हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं से भर उठा, भले ही उनमें से कुछ अल्पजीवी रही हों। उस समय न्यायालयों और संपूर्ण शिक्षा-संस्थाओं में हिंदी के लिए बहुत कुछ किया गया। अतएव हिंदी के पाठकों और प्रेमियों की बड़ी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में तो बाढ़ सी आ गई। विषय और रचना-प्रकार की विविधता का यदि विचार किया जाय तो यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भारतेंदु-युग में हिंदी-साहित्य को विकास नहीं, सिद्धि प्राप्त हुई। नवीन पद्धति का काव्य, नाटक

कथा-कहानी, निबंध और आलोचना का सूत्रपात भी हुआ और उसमें प्रौढ़ता भी दिखाई पड़ने लगी।

भारतेंदु की अनेकमुखी प्रतिभा ने सभी प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत कीं। काव्य के क्षेत्र में तो वे जन अथवा लोक-साहित्य तक पहुँचे। कबीर और वैष्णव कवियों की पद्धति पर तो उनकी सुंदर कविताएँ हैं ही पर उनकी लावनी-रचना कम महत्त्व की चीज़ नहीं है। उसी प्रकार गद्य में उनकी नाटकीय कृतियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं पर जो गद्य अन्य विविध प्रकारों से भी उन्होंने लिखा है उसका ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है। इस प्रकार जीवन में उन्होंने अपने दोनों दायित्वों का अच्छा निर्वाह किया। 'उन्होने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर ला खड़ा कर दिया।'

हिंदी-गद्य के निर्माण में द्वितीय महापुरुष पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी थे। यों तो उन्होंने लिखना ई० सन् १८९४ के पूर्व ही आरंभ कर दिया था पर उस समय संस्कृत की पद्धति ही उनकी भाषा-शैली पर छाई हुई थी। कालांतर में उनकी लगन, तपस्या और परिश्रम का स्वरूप दिखाई पड़ा। आधुनिक गद्य साहित्य की आज जो अभिवृद्धि हो सकी है अथवा भाषा का जो परिमार्जन और परिष्कार आज मिल-रहा है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। भारतेंदु-युग की बाढ़ को स्थिर गति पर लाने में द्विवेदीजी ने साधना की थी, भाषा-संबंधी जितना भी लचरपन उनके सामने आया उसकी उन्होंने अच्छी खोज-खबर ली, जहाँ एक ओर वे नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देकर निर्माण-कार्य में लगाने की चेष्टा करते रहते थे वहीं दूसरी ओर उनको रचना के समस्त दोषों से बचाने के लिए कठोर नियंत्रण और आलोचना भी करते रहे। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यों में जहाँ भी कुछ विशेष बात लिखी उनको मिलती थी उस को हिंदी माध्यम से निरंतर लिख-लिखकर हिंदी के पाठकों को ऊपर उठाने की तपस्या वे जीवन भर करते रहे। यदि उनके संपूर्ण साहित्यिक जीवन का विचार

किया जाय तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि ई० सन् १९२५ तक हिंदी में उनका राज्य था। वे निर्माता थे, नियामक थे और साथ ही कठोर शासक भी थे। हिंदी की गद्यनिर्मिति में उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्व विशेष है।

द्विवेदीजी के साथ ही बाबू श्यामसुंदरदास ने भी अपना साहित्यिक जीवन आरंभ किया था। एक ओर उन्होंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-संमेलन ऐसी संस्थाएँ स्थापित कीं और दूसरी ओर हिंदी के प्राचीन ग्रंथों की खोज और न्यायालय में नागरी का प्रश्न भी उठाया। इनका कृतित्व ई० सन् १९०० से १९३५ तक मानना चाहिए। इसके भीतर बाबू साहब ने जिस प्रकार का संमानित स्वावलंबन, साहित्य साधना और हिंदी के प्रति एकनिष्ठता का भाव दिखाया वह अद्वितीय था। गंभीर चिंतन और प्रौढ़ रचनाप्रणाली का जो स्थिर स्वरूप इन्होंने सामने रखा वही कालांतर में स्फुट होकर साहित्यालोचन का मुख्य माध्यम बनने में सक्षम हो सका। निरंतर एक के बाद दूसरा ग्रंथ निकालने में ही वे लगे रहते थे। विविध विषयों पर अनेकानेक सुंदर रचनाएँ नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित होती रहीं और हिंदी-गद्य का भांडार समृद्धिशाली होता गया।

साहित्य-स्रष्टा के अतिरिक्त बाबू साहब के अध्यापन का कार्य-काल बड़े महत्त्व का है। वर्तमान आलोचना के युग का निर्माण उन्होंने ही किया कराया था। उनका व्यक्तित्व गतिशील शक्ति से संपूर्ण था। उनको अनेक यशस्वी कृतिकारों के बनाने का श्रेय प्राप्त था और वे बहुत ऊँचे दर्जे के संगठनकर्ता थे, उन्हीं की अध्यक्षता में हिंदू विश्वविद्यालय ने सर्वप्रथम विधिवत् हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की पूर्णव्यवस्था के लिए हिंदी-विभाग की स्थापना की। पढ़ाई-लिखाई के सर्वोच्च स्तर की रूपरेखा निश्चित करना, उसकी परीक्षा का मानदंड निर्दिष्ट करना और उसके अनुरूप विशिष्ट साहित्य की निर्मिति उनके अध्यापन-काल की प्रमुख विशेषताएँ हैं। विश्वविद्यालयों के गढ़ का आधिपत्य प्राप्त कर ही आज हिंदी उस सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ी हो सकी है

जिसके कारण उसे अभिनव निर्माण में योग मिल सका है। इस आधार पर बाबू साहब का कार्य और उसका महत्त्व अपूर्व हो जाता है।

पं० रामचंद्र शुक्ल के व्यक्तित्व और उनकी विभिन्न साहित्यिक कृतियों का आज अत्यधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि यह मुख्यतः आलोचना का युग है और इस क्षेत्र में उन्होंने ही पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। उनके पूर्व सैद्धांतिक समीक्षा का कोई विहित स्वरूप देखने में नहीं आया था। साथ ही समालोचना का व्यावहारिक प्रयोग भी अत्यंत दुर्बल और क्षीणकाय था। लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा और मिश्रबंधुओं द्वारा स्थापित पद्धति ही चल रही थी। इन आलोचनाओं में तथ्यातथ्य-निरूपण की उस अंतःस्पर्शी मार्मिकता का उद्घाटन नहीं हो सका था जिसको आदर्श मानकर कुछ दूर तक चला जा सकता अथवा जिसका अनुसरण कर समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों को बल मिलता। उक्त कृतिकारों में व्यक्तिगत दृष्टि का प्रसार ही अधिक स्फुट हुआ था और इसलिए उन्हें विवेचना का सामान्य मानदंड नहीं बनाया जा सकता था।

शुक्लजी की तुलसीदास, सूरदास और जायसी की विस्तृत समीक्षाओं में सर्वप्रथम समीक्षा का शुद्ध रूप दिखाई पड़ा। इनमें यथास्थान आलोचना के विविध प्रकारों की प्रकृत रूपरेखा सामने आई और उनका तारतमिक स्वरूप एवं उपादेयता समझने में सरलता हो गई। अभी तक कृति से अधिक कृतिकार का दोष-दर्शन होता रहा, पर शुक्लजी ने श्रेष्ठ कवियों की अंतःशायिनी प्रवृत्तियों और उनके संपूर्ण कविकर्म की सहृदयतापूर्ण व्याख्या आरंभ की। इस प्रकार उन्होंने समालोचना-युग के आदर्श अग्रदूत का काम तो किया ही साथ ही विवेचनापरक शास्त्रीय चिंतन का अभिनव महत्त्व भी समझाया। आज जिस स्वच्छंदता से उत्साही समालोचकगण विचरण कर रहे हैं और नित्य नूतन रंगढंग से कृतियों की मीमांसा करने में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं उसका सारा श्रेय शुक्लजी को ही दिया जायगा। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-युग के निर्माता वे ही थे।

आलोचना के अतिरिक्त निबंध-रचना के क्षेत्र में भी उनकी अपनी देन थी। उनके समय तक अनेक यशस्वी निबंध-लेखक हो चुके थे और अपनी अपनी प्रणाली से उन्होंने गद्यभारती का भांडार भरा था पर जिस ठाठ को लेकर शुक्लजी आगे आए वह विषय और शैली के विचार से सर्वथा नवीन था। उनके पूर्व सामान्यतः सरल एवं व्यावहारिक विषयों पर ही अपनी मौज और तरग के अनुसार लोग निबंध लिखते रहे। प्रतिपाद्य भी दैनिक जीवन से संबद्ध और प्रतिपादन की पद्धति भी मनोरंजक और सीधी सरल रहती थी। निबंध-रचना को गंभीर स्तर पर ले जाने का श्रेय भी शुक्लजी को ही मिलना चाहिए, सुव्यवस्थित प्रणाली पर व्यक्तिगत विशेषताओं से सर्वथा भरीपूरी भाषाशैली में विचारों को कस-कसकर एक सुनिश्चित क्रमन्यासपूर्वक उपस्थित करने की परिपाटी सर्वप्रथम शुक्लजी ने आरंभ की और उसे साहित्य की एक चीज बनाया।

हिंदी की गद्य-रचना के क्षेत्र में जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंदजी के आगमन से साहित्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया। 'प्रसाद' की प्रतिभा से पोषित कल्पना और भावुकता ने और प्रेमचंद की युगधर्म से अनुप्राणित लेखनी ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत निर्मिति से गद्य की धारा को गतिशील एवं पीनकाय बनाया। दोनों लेखकों के अपने क्षेत्र थे और दोनों में अपना जीवन दर्शन था, दोनों ने मानव-जीवन को अच्छी तरह देखा था और उनकी वाणी में परिष्कार और बल था। 'प्रसाद' में काव्यतत्त्व प्रबल था और प्रेमचंद में व्यावहारिक जीवन की प्रधानता ही मुख्य थी। जहाँ प्रकृत और यथार्थ का स्पष्ट बोध दोनों में मिलता है वहीं आदर्शों और आकांक्षाओं के चित्रण में भी दोनों प्रवीण थे, दोनों को साहित्य ने बनाया था और दोनों ने साहित्य को बनाया-सँवारा था। कृतिकारों की ऐसी जोड़ी बड़े सौभाग्य से रचना के क्षेत्र में अवतरित होती है। दोनों में साध्य-साधन की एकस्वरता अवश्य थी पर दोनों में शैलीभेद भी स्पष्ट और मौलिक था, दोनों एक होकर भी पृथक् थे।

'प्रसाद' जी में अतीत के अंतराल में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता

थी। इस क्षेत्र के विविध चित्रों के मार्मिक उद्घाटन और उन्हें सजीव बनाने में उनकी प्रतिभा विशेष रमती थी। उनकी छोटी और बड़ी कहानियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं। 'ग्राम' से लेकर 'सालवती' तक इस प्रकार के चित्र मिलते रहते हैं। आरंभ से ही 'प्रसाद' की यह वृत्ति बल पकड़ती आई थी। 'अशोक' और 'गुलाम' का बीज 'आकाशदीप' और 'सालवती' में पल्लवित हुआ था। इस रचना-प्रसार में कहानियों की अनेक शैलियाँ और विविध भाव-भंगिमाएँ दिखाई पड़ती हैं। 'प्रतिध्वनि' की पद्धति 'आकाशदीप' में नहीं है और 'इंद्रजाल' में और 'आकाशदीप' में शैलीगत साम्य कम है। पर कल्पना एवं भावुकता की प्रमुखता के कारण सभी प्रकार की उक्त कहानियों में काव्यतत्त्व की ही अधिकता है। इस आधार पर यदि विचार किया जाय तो 'प्रसाद' का अपना एक वर्ग है।

कहानियों के लघु प्रसारगामी इतिवृत्त की रचना तक ही 'प्रसाद' की प्रतिभा परिमित नहीं रह सकी। उपन्यासों के व्यापक विस्तार-क्षेत्र में भी वह खुल खेलती दिखाई पड़ती है। अवश्य ही इतिवृत्त-संघटन की कुशलता 'कंकाल' में कुछ उलझी सी मालूम पड़ती है। वहाँ कथा-क्रम के बहुमुखी बन जाने के कारण इतिवृत्ति की एकरसता कुछ बिखर-सी उठी है पर 'तितली' में आकर प्रबंधकौशल सर्वथा संयत और सुगठित दिखाई पड़ता है। इसमें उपन्यास के संपूर्ण अवयवों का पूर्ण विकास संयत और मुखरित हो गया है। तितली के रूप में भारतीय जीवन के आदर्शों और आकांक्षाओं की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। क्रियाकल्प-विषयक सभी गुण इस उपन्यास में स्फुट हो उठे हैं। 'इरावती' में आकर तो 'प्रसाद' का प्रसादत्व निखर उठा है, अपूर्ण होकर भी यह रचना लेखक की पूर्णता का अनुमानाश्रित स्वरूप स्पष्ट कर देती है। यदि कृति कहीं पूरी हो जाती तो अवश्य ही जयशंकर 'प्रसाद' उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अमर हो जाते, पर उसका वर्तमान रूप-रंग उनकी विषय-पटुता का पूरा प्रतिनिधित्व कर देता है।

कहानियों और उक्त उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रसाद' का विशेष

महत्त्व उनके श्रेष्ठ नाटकों के कारण मानना चाहिए। यों तो कुछ मत्सरी और प्रतिद्वंद्वी सामान्य समालोचक इन नाटकों के दोष-दर्शन में ही प्रवृत्त हुए हैं और आत्मघातों की बाढ़ को अभारतीय कहकर मीन-मेष करते हैं, पर बात ऐसी है नहीं। इन युगांतरकारी नाटकों ने प्राचीन भारत की गौरव-गाथा को प्रभावशाली रूप में उपस्थित कर अपने लक्ष्य की पूर्ति की है और सफलतापूर्वक अतीत की नाट्य-रचना-पद्धति के मेल में आ गए हैं। इतिहास की पूर्ण संगति, काव्य-भावना का उन्मेष और सजीव जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति के कारण इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। साध्य-साधन का इतना सुंदर समन्वय अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। चाहे रस निष्पत्ति के विचार से वस्तु की विवेचना हो चाहे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के आधार पर देखा जाय इनका महत्त्व किसी रूप में दुर्बल नहीं मालूम पड़ेगा। उत्तर महाभारतकाल से लेकर हिंदुओं के उत्थान के परवर्ती समय तक का इतना भव्य स्वरूप इतने काव्यात्मक ढंग से किसी ने सामने रखा नहीं। प्राचीन की तुलना में वर्तमान के नवरूप का इतना स्पष्ट चित्रण अपूर्व प्रतिभा और कौशल का कार्य है। इन नाटकों में रस-प्रसार के साथ क्रियाशीलता का पूर्ण सामंजस्य 'प्रसाद' ने बैठाया है। अपनी भाषाशैली, वस्तुविधान और अभिव्यंजन-सौंदर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के द्वारा 'प्रसाद' ने युग-निर्माता का काम किया है।

कथा-साहित्य के निर्माण में प्रेमचंदजी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। 'प्रसाद' की तुलना में इनकी कहानियों ने अधिक प्रसार पाया। इनके पाठक अधिक भी थे और लिखा भी उन्होंने अधिक। जन-जीवन की वास्तविक और अनुभूतिपूर्ण अवतारणा के कारण इनकी कहानियाँ जन साधारण को अधिक प्रिय प्रमाणित हुई। साधारण जन के जीवन और जगत् की कौटुंबिक और सामाजिक विविध घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण ही इन कहानियों की विशेषता है। इस प्रकार की रचना के जितने भी अवयव हैं उनका अच्छा संघटन प्रेमचंद में मिलता है। उनके वस्तुविधान में भारतीय जीवन के अनुभूतिमूलक स्वरूप की बड़ी प्रकृत अभिव्यंजना हुई है। इस देश के चीण-

काय नागरिकों और पीड़ित ग्रामीणों को ही प्रेमचंद ने अपना विषय बनाया। उनकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत हीनताओं और दैन्य का कारुणिक तथा सहृदयतापूर्ण वर्णन तो उन्होंने किया ही पर उनकी भावनाओं और आकांक्षाओं की ओर संकेत करना भी वे भूले नहीं। इसीलिए उनके वस्तुप्रसार में संघर्ष एवं जीवन भरा मिलता है। मानव-सुलभ चारित्र्यदोष जहाँ अंकित किया गया है वहाँ उसके आधारभूत कारण की भी आलोचना की गई है। इस प्रकार अपनी कहानियों को प्रेमचंद ने भारत की वर्तमान कहानी बनाया है। उनकी साहित्यिक कृति में यही अपनापन विशेष है।

लघु इतिवृत्तों के अतिरिक्त उपन्यास के विस्तृत क्षेत्र में उतरकर उन्होंने जीवन के संश्लिष्ट और नानामुखी स्वरूप की प्रतिष्ठा में भी पूरी सफलता प्राप्त की थी। लेखक अपने समय का सर्वोत्तम प्रतिनिधि होता है इस कथन की यथार्थता के अच्छे उदाहरण प्रेमचंद थे। उनकी कहानियों और उपन्यासों को साक्षीरूप में रखकर यदि कोई तत्कालीन भारत का इतिहास लिखे तो संपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विवरण उसे मिल सकता है। इस समय का सारा ढाँचा दो पक्षों में बँटा था—ग्राम और नगर, धनिक एव दरिद्र। दोनों का अपना-अपना स्वरूप और अपनी-अपनी कथा थी। दोनों में संतुलन की महती आकांक्षा ही लक्ष्य था प्रेमचंद के साहित्य का। उन्होंने समान सहानुभूति के साथ दोनों पक्षों का चित्रण किया और दोनों को समझने-समझाने का अवसर दिया था। अपने सभी उपन्यासों में उन्हीं दोनों द्वंद्वों को उन्होंने सामने रखा था। उनके भीतर बाहर का पूरा अंतर्भेद उन्होंने उपस्थित किया था और उनकी सर्वांगीण परीक्षा की थी। यों तो वस्तु-निर्वाचन के विचार से उनका विषय एकदेशीय और परिमित कहा जा सकता है पर अनेक उपन्यासों में अवतरित होने के कारण उसमें संपूर्णता और विविधता आ गई थी।

प्रेमचंद के 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' एवं 'गोदान' में एक

ही वस्तु, एक ही प्रकार का वर्गविभाजन, एक ही प्रकार का जीवन था और उसकी समस्या भी एक ही थी। इस दृष्टि से प्रेमचंद की कृतियाँ नवनवता के पूर्ण उन्मेष से विहीन थीं। विषय-संबंधी यह एकांगिता अवश्य खटकती है पर अपनी इस परिमिति के कारण उन्होंने उपन्यास के रचना-सौंदर्य को कहीं भी विकृत नहीं होने दिया। भले ही कथानक और परिस्थिति-योजना एकदेशीय मालूम पड़ें पर जीवन के संघर्ष का स्वरूप और युग-दर्शन में जो उत्कर्षोन्मुख विकास दिखाई पड़ता है वह भारत के राजनीतिक वातावरण का पूरा प्रतिनिधित्व करता गया है। ई० सन् १९२१ से लेकर ई० सन् १९३५ की सभी विचारधाराओं की सजीव झलक उनकी रचनाओं में मिलती है। प्रेमचंदजी इस विचार से बड़े भावुक और जागरूक द्रष्टा और चिंतक थे। महात्मा गांधी के दर्शन से प्रभावित होकर निरंतर अपनी भावनाओं और आदर्शों का परिष्कार करते गए थे। यह वृत्ति उनकी प्रगतिशीलता का अच्छा उद्‌घाटन करती है। वे सामान्य जन-जीवन के सच्चे पारखी थे और जन-साहित्य के श्रेष्ठ निर्माता थे।

'गोदान' उनकी अंतिम कृति थी और उस रचना तक आते आते उनकी समस्त अनुभूतियाँ, विचार, आकांक्षाएँ और मान्यताएँ अपने निखार पर आ चुकी थीं। इसलिए जब अंतिम बार वे अपनी चिर-परिचित वस्तु को लेकर संमुख आए तो नए उत्साह, नई योजना और तात्त्विक परिष्कार के साथ। इस उपन्यास में जहाँ उनकी सारी पूर्व कृतियों का सार एकत्र हुआ मिलता है वहीं बहुवस्तुस्पर्शी प्रतिभा का पूर्ण विकसित स्वरूप भी आलोकित हो उठा है। भारतीय जीवन की सर्वांगीण परीक्षा, विवृति और स्वरूप-विन्यास ही इस कृति का मुख्य लक्ष्य था। वस्तुतः इसी स्थल पर आकर प्रेमचंद पूर्णतया शुद्ध बुद्धि से प्रेरित निर्लिप्त कलाकार बन सके हैं। उनके वस्तु-प्रसार में आनेवाली जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ, विचार-प्रवाह और भावनाएँ यहीं खुलकर खेल सकी हैं और अपने कृतिकार को अमर बना गई हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

1. भारतेंदु-युग
2. भारतेंदु के नाटकों में युगधर्म
3. चंद्रावली नाटिका

भारतेंदु-युग

कीर्तिस्तंभ व्यक्ति किसी काल-विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रधान प्रवर्तक होते हैं। उनकी पुण्य स्मृति अक्षुण्ण रूप में अनंत काल तक समाज के हृदय में स्थापित रहती है। उन प्रवृत्तियों के वृद्धिक्रम के अनुसार उनके प्रवर्तक का यश भी विभिन्न क्षेत्रों में स्फुरित होता जाता है। यह कथन साहित्य में भी उसी प्रकार महत्त्व का है जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जगत् में, मानव बुद्धि, भावनाओं तथा चरित्र के परिष्कार के साथ-साथ रुचि-अरुचि में भी परिवर्तन होता चलता है। किसी काल में देशव्यापी विशेष परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से समाज में सर्वथा नवीन प्रकार की भावनाएँ भर जाती हैं। फिर क्रमशः मानव-मनोवेगों के योग से ही भावनाएँ स्थिरता प्राप्त करती हैं और इस प्रकार नवीन संस्कारों की नींव पड़ती है। समय-समय पर जो विशिष्ट बुद्धि के मनोयोगी समाज की परिचालना के निमित्त अव-तीर्ण होते हैं वे इन विशेष परिस्थितियों के मूल में निहित मानव-भाव-नाओं के शुद्ध स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में सफ-लता प्राप्त कर लेने पर अपने व्यक्तिगत जीवन को उन्हीं भावनाओं से परिष्कृत कर एक आदर्श मार्ग का निर्माण कर लेते हैं। समाज अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप इस आदर्श मार्ग को पाकर उत्साहपूर्वक उसपर चलता है और प्राचीन परंपराओं एवं रूढ़ियों के मूल में बैठी हुई भावनाओं का दृढ़ता-पूर्वक त्याग कर देता है। इस प्रकार का परिवर्तन तथा संशो-धन एक दो दिनों में नहीं होता। इसके लिए समय अपेक्षित है। जो

महापुरुष जितने ही थोड़े समय में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर सकता है उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी इसी प्रकार के महापुरुषों में थे। उन्होंने अपनी कुशल बुद्धि तथा मनोयोग से थोड़े समय में ही हिंदी साहित्य में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर दिया। महाकवि टेनिसन के अनुसार उन्होंने भी समझ लिया कि कोई भी परंपरा और रूढ़ि यदि अपनी आयु से अधिक जीवित रहती है तो उसका सौंदर्य कुरूपता में तथा उपयोगिता अमंगल में परिवर्तित हो जाती है, अतएव समयानुकूल परिस्थिति के अनुरूप ही साहित्य को अपनी परंपराओं और रूढ़ियों को बना लेना चाहिए, इसी में कल्याण है। उन्होंने भली भाँति समझ लिया कि शृंगार-रस-प्रधान कविताएँ रीतिकाल की परंपराओं और रूढ़ियों के अनुसार कई सौ वर्षों तक चल चुकीं। वे अपने यौवनकाल में बड़ी प्रिय थीं। समाज उनके अनुरूप था, इसलिए उनकी बड़ी चाह थी और उनमें विशेष सौंदर्य और आकर्षण था। परंतु इस समय साहित्यिक परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक स्थिति, धार्मिक भावनाओं एवं सामाजिक प्रथाओं में घोर परिवर्तन आरंभ हो गया है। साथ ही उन्होंने यह देख लिया कि केवल कविता से काम नहीं चल सकता क्योंकि कविता केवल भावों के परिष्कार और उद्दीपन में ही सहायक हो सकती है। व्यावहारिक क्षेत्र में गद्य के बिना निर्वाह नहीं। अतएव उन्होने कविता के साथ-साथ गद्य-साहित्य की अभिवृद्धि का प्राधान्य स्वीकार कर लिया। अपने छोटे से जीवन में उन्होने इस सिद्धांत का निर्वाह अपने कार्य-क्रम में बड़ी ही तत्परता तथा अध्यवसायपूर्वक किया। परिणाम-रूप मे उनके जीवन-काल ही में गद्य-साहित्य का भांडार शीघ्रता से परिपूर्ण होने लगा। उनके समकालीन कितने ही यशस्वी लेखकों ने उनका उत्साह देखकर साथ दिया। पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं, अनेक नाटक लिखे गए। उपन्यास और निबंध लिखे जाने लगे। आलोचना का भी सूत्रपात उसी समय से मानना चाहिए। इस प्रकार अपने अनवरत अध्यवसाय का फल अपने जीवन-

काल में ही उन्होंने देख लिया। कविता के क्षेत्र में भी उन्होंने परिवर्तन उपस्थित किया। केवल पुरानी रूढ़ियों के अनुसार शृंगार-रस-प्रधान कविताएँ ही उस समय नहीं लिखी गईं वरन् ऐसी रचनाएँ भी उसी समय होने लगीं जिनका विकसित रूप आज वर्तमान है।

भावपक्ष में परिवर्तन उपस्थित करने के अतिरिक्त उन्होंने भाषा का जो परिष्कार किया वह विशेष कार्य था। उनके पूर्व मुंशी सदासुख लाल और इंशाअल्ला खाँ के समय से ही भाषाशैली के दो रूप चले आ रहे थे। उनके समय में भी राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिव-प्रसाद सितारेहिंद के दो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते थे। एक रूप उर्दूपन लिए हुए था और दूसरा संस्कृत की तत्समता से युक्त हिंदी का था। यह विभिन्नता क्रम से बढ़ती हुई विरोध का रूप धारण कर रही थी। भारतेंदु को यह बात खटकी। उन्होंने समझ लिया कि यदि किसी पक्ष-विशेष का सर्वथा ग्रहण और दूसरे का त्याग किया जायगा तो सब पक्षों का समाधान नहीं हो सकेगा, अतएव कल्याण इसी में है कि मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाय जिससे भाषा का व्यावहारिक रूप भी स्थिर हो जाय और वाक्य-योजना से उर्दू-फारसीपन निकलकर शुद्ध हिंदीपन चलने लगे। ऐसा विचार कर उन्होंने भाषा के उस रूप का पक्ष ग्रहण किया जिसका विकसित और परिमार्जित रूप आज मुंशी प्रेमचंद प्रभृति लेखकों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

साहित्य के धारा-प्रवाह में परिवर्तन एवं नियंत्रण के अतिरिक्त उन्होंने समाज-पक्ष में भी अपना स्थायी प्रतिनिधित्व स्थापित किया। कठोर और सच्चे आलोचक की भाँति उन्होंने सामाजिक कुप्रथाओं तथा दुर्बलताओं का स्पष्ट उद्घाटन कर हमें अपनी त्रुटियों की ओर ताकने को बाधित किया। धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष में हमारा कितना पतन हो चुका है इसका ध्यान उन्होंने ही दिलाया। धर्म में कितना पाखंड और अविचार घुसा है इसका चित्रण उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में किया है। न्याय में जब मूर्खता का समावेश हो जाता है तब उसका कितना हास्यास्पद रूप हो जाता है इसका रूप उन्होंने

'अंधेर-नगरी' में दिखाया है। राजनीतिक पक्ष में हमारी क्या वास्तविक परिस्थिति है, हम कितने भयाकुल और दबे हुए हैं, विदेशी शासन किस प्रकार व्यवस्था की आड़ में हमारे स्वत्वों और धनधान्य का नाश करता जाता है इसका रहस्य उन्होंने 'भारतदुर्दशा' नाटक में स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु ने बड़ी ही निर्भयता से अपनी समकालीन अवस्थाओं का चित्रण और आलोचन किया है। उनके जीवनकाल में उनके समान निर्भय होकर 'नारि नर सम होहिं', 'स्वत्व निज भारत गहै', 'कर दुख बहै' इत्यादि वाक्य कहता हुआ कोई नहीं दिखाई देता था। यह विशेषता उनके जीवन को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करती है। सरांश यह है कि अपने पंद्रह वर्षों के सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन में साहित्य तथा समाज का जितना कल्याण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने किया उतना संसार का कोई भी साहित्यसेवी नहीं कर सका होगा।

हिंदी-गद्य-साहित्य का वह काल, जिसमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने और उनके अन्य अनेक समसामयिक प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी नवोन्मेषिणी रचनाएँ प्रकाशित कीं, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इसी समय प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा का अंत हुआ। रीतियुग में विषय-निवार्चन का जो संकोच साहित्य के क्षेत्र में प्रसरित दिखाई पड़ा था वह यहाँ तक अविच्छिन्न रूप में आया। विषय की नाना रूपता के अभाव के साथ-साथ अभिव्यंजना और भाषा में भी एकांगिता घुस आई थी। साहित्य का सारा क्षेत्र संकुचित हो गया था। हरिश्चंद्र-काल ने हिंदी-साहित्य में परिवर्तन उपस्थित किया।

अँगरेजी राज्य के स्थापित होने के उपरांत भारतवर्ष की संस्कृति में नवीनता का प्रवेश होने लगा था। धीरे-धीरे इस नवीनता का प्रभाव देश के सभी अंगों पर दिखाई पड़ा। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन पर नवीनता का रंग चढ़ने ही लगा था, पर साहित्य में तो उसका रूप क्रांतिकारी बन गया था। इसके पहले हिंदी-साहित्य एक पैर पर खड़ा था और वह पैर भी रक्त-संचार की मलिनता तथा

अस्वस्थता के कारण दुर्बल एवं अशक्त हो चला था। नवीन रक्त-संचार के अभाव में शरीर के विभिन्न अवयव जैसे वृद्धता के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं उसी प्रकार साहित्य का यह एक पैर भी जो पद्य-रूप में दिखाई पड़ रहा था, अब उखड़ चला था। अतएव इस पैर में नवीन रक्त उत्पन्न करने की और साथ ही दूसरे पैर के गढ़ने की व्यवस्था आवश्यक हो गई थी।

हरिश्चंद्रजी ने अपने जीवन-काल में पद्य के स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं किया। नवीन विषयों की ओर संकेत करके उन्होंने उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में नवीनता का केवल आभास भर दिया। यही कारण है कि उस काल में भी कहीं-कहीं रीतियुग की क्षीण-हीन कलेवरा नायिकाएँ अपनी वृद्धता का दुर्गम-भार वहन करती हुई हिलती-डोलती दिखाई पड़ती हैं। इनके अतिरिक्त उनके अन्य सहयोगी और उद्दीपक भी जीवनहीन होकर अस्तव्यस्त रूप में रह गए थे। अपने काल के सर्वोत्तम प्रतिनिधि भारतेंदु ने जीवन को उन प्राचीन नायिकाओं के चंगुल से मुक्त करके, उन्हें रूढ़ फुलवारी और वाटिकाओं से निकालकर वाहर किया। भक्ति एवं प्रेम के कल्पना-लोक और संयोग-वियोग के संघर्ष से दूर हटाकर उन्होंने अपने जीवन को व्यवहार की सामान्य भूमि पर भी लाकर खड़ा करने का उद्योग आरंभ कर दिया था। परंपरागत भावों तथा विषयों पर रचनाएँ तो चलती ही रहीं, उन्होंने अपनी समसामयिक स्थितियों और विषयों की ओर भी ध्यान दिया। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग करके इस वात का भी उन्होंने संकेत कर दिया था कि यदि चेष्टा की जाय तो इस भाषा का भी काव्योचित संस्कार किया जा सकता है। जहाँ उन्होंने परंपरा के अनुसार प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी, सतसई-शृंगार, दानलीला, बसंत और होली ऐसे विषयों को लेकर प्राचीन पद्धति पर अनेकानेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं वहीं अपने वर्तमान से संवद्ध विभिन्न विषयों पर भी सरस कविताएँ लिखीं। श्रीराजकुमार-सुस्वागत-पत्र, विजयिनी-विजय-वैजयंती, रिपनाष्टक, श्री जीवनजी महाराज शीर्षक समसामयिक विषयों पर भी उन्होंने कविताएँ बनाईं,

साथ ही राष्ट्र-गौरव गान भी उन्होंने लिखे जो कि समय के विचार से आगे थे। उनमें आत्म-गौरव, देशप्रेम और जागरण की भावनाओं का स्थिर रूप दिखाई पड़ा। भारत-वीरत्व, जातीय-संगीत और भारत-भिक्षा इत्यादि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इसके अतिरिक्त अपने समकालीन भाषा-द्वंद्व का वर्णन और कथन करके उन्होंने समय की सच्ची और महत्त्वपूर्ण घटना की आलोचना की है। 'उर्दू का स्यापा' और 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' इस प्रकार की रचनाओं के अंतर्गत हैं। भारतेंदु का प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन यों तो प्रायः परंपरागत और नागरिकता से ही पूर्ण है परंतु निवेदन-पद्धति और पदावली के विचार से कहीं-कहीं उसमें भी नवयुग के बीज लक्षित होते हैं। 'प्रात-समीरन' शीर्षक कविता में इसका स्पष्ट आभास मिलता है।

गद्य के क्षेत्र में उनका विशेष महत्त्व है। उनके पूर्व भाषा का द्वंद्व चल रहा था। आरंभ में ही यह द्वंद्व इंशाअल्ला खाँ और मुंशी सदासुख लाल में प्रकट हुआ। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसादजी के समय में इसने संघर्ष का रूप पकड़ा। भारतेंदु और उनके समकालीन अन्य लेखकों के सामने यह प्रश्न आया कि इस द्वंद्व की व्यवस्था होनी चाहिए। हिंदी-साहित्य में यह परिवर्तन और क्रांति का युग था। उस समय भाषा जिस ढर्रे पर चलती उसका प्रभाव अवश्य ही भविष्य के रूप पर पड़ता। इस गंभीरता को बाबू हरिश्चंद्रजी ने समझा और उन्होंने अपने को संघर्ष में न डालकर एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। राजा शिवप्रसादजी की प्रवृत्ति धीरे-धीरे फारसीपन की ओर बढ़ रही थी। राजा लक्ष्मणसिंह के साथ ईसाई धर्म-प्रचारकों की रुचि भाषा की विशुद्धता की ओर थी। आगे चलकर राजा शिवप्रसाद का फारसीपन बढ़ा। वह केवल शब्दों तक ही परिमित न रहा। उनकी वाक्य-योजना, संधि-समास और अन्य व्याकरण-संबंधी नियमों के पालन तक में फारसीपन दिखाई पड़ने लगा। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह और ईसाइयों ने पछाँहीं अथवा प्रांतीयता और चलते ग्रामीण तद्भव शब्दों तक को अपनाना तो स्वीकार कर

लिया परंतु फारसी-अरबी के शब्दों और उनके शासक नियमों को सदैव बचाते रहे। इस प्रकार भाषा का यह द्वंद्व दृढ़ रूप पकड़ता गया।

भारतेंदु ऐसे प्रतिभासंपन्न और दूरदर्शी व्यवस्थापक ने समझ लिया कि इस प्रकार की खींचतान ऐसे कठिन समय में हानिकर ही सिद्ध होगी; साथ ही किसी एक पक्ष को स्वीकार करने से दूसरा पक्ष विरोधी बन जायगा। ऐसी अवस्था में उनके द्वारा स्थापित भाषा-प्रयोग का मध्यम मार्ग बड़ा मंगलकारी तथा व्यावहारिक सिद्ध हुआ। आगे चलकर उनकी बहुमुखी गद्य की रचनाओं में इसी शैली का उपयोग हुआ। इनके समय के अन्य लेखकों ने प्रायः इन्हीं का अनुकरण किया। यों तो उस समय भी भाषा द्वंद्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ परंतु किसी प्रकार उसने कोई उग्र रूप नहीं धारण किया। इसलिए कि अधिकांश रचनाएँ इसी मध्यम मार्ग के सिद्धांत के अनुसार बनी हैं। इसका संपूर्ण श्रेय भारतेंदु को मिलना चाहिए। उनका प्रभाव तत्कालीन लेखक-मंडल पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका भाषा-संबंधी परिष्कार गद्य-शैली के निर्माण में बड़ा अनुकूल रहा।

भाषा-संबंधी संस्कार के अतिरिक्त गद्य-साहित्य की रूप रेखा और उसकी जड़ जमाने में भारतेंदु का बड़ा हाथ था। प्रस्तावना-रूप में केवल कुछ स्कूली-पुस्तकें चल रही थीं और कुछ धार्मिक-पौराणिक आख्यानों का रूप दिखाई पड़ रहा था। गद्य-रचना के इस व्याव-हारिक रूप के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य के क्षेत्र के भीतर आनेवाली रच-नाएँ नहीं थीं। हरिश्चंद्र ने भी अनेक विषयों पर स्वयं लिखा और निरंतर इस बात का प्रयास करते रहे कि नवीन लेखकों की सृष्टि हो और शीघ्र हिंदी-गद्य का बहुमुखी रूप सामने आ जाय। तत्कालीन साहित्य-निर्माण पर उनके उत्साह और प्रेरणा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके साथ लेखकों का एक मंडल तैयार हो गया। उसमें अनेक प्रति-ष्ठित लेखक ऐसे थे जो उन्हें आदर्श मानकर साहित्य-सर्जन में उन्हीं का अनुकरण करते थे। इस प्रकार उस लेखक-मंडल के सरदार भार-तेंदुजी बने। उस समय के लिखनेवालों में बालकृष्ण भट्ट, सुधाकरजी,

प्रतापनारायण मिश्र, सीताराम, बदरीनारायण 'प्रेमघन', जगमोहन सिंह, श्रीनिवासदास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास प्रभृति थे। इनके अतिरिक्त गोविंदनारायण मिश्र, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह, राधाकृष्णदास, लक्ष्मीशंकर मिश्र इत्यादि भावी लेखकों का उदय तथा उद्बोधन उसी काल में मानना चाहिए। इसके उपरांत तो लेखकों और रचनाओं की परंपरा चल पड़ी। भारतेंदु से प्रवाहित गद्य की सुधा-धारा उत्तरोत्तर अखंड एवं पीनकाय बनती गई।

भारतेंदु के समय तक छापाखानों की स्थापना अच्छी तरह हो गई थी। धार्मिक और स्कूली पुस्तकों का प्रकाशन चल रहा था। अँगरेजी और बँगला में समाचार-पत्र निकल रहे थे। उनके महत्त्व को सभी समझ रहे थे और उनके व्यावहारिक उपयोग तथा प्रभाव का सभी अनुभव कर रहे थे। छापाखानों और समाचार-पत्रों के द्वारा कितना काम हो सकता है इसका ज्ञान हिंदी के प्रवर्तक और अनुयायियों को तुरंत हो गया। भारतेंदु की बाल्यावस्था में ही 'बनारस अखबार' (सन् १८४५ ई०) गोविंद रघुनाथ थत्ते के संपादन में, 'सुधाकर' (सन् १८५० ई०) तारामोहन मित्र के संपादन में और 'बुद्धिप्रकाश' (सन् १८५२ ई०) आगरावाले सदासुख लाल के संपादन में निकल चुके थे। जब भारतेंदुजी साहित्य-क्षेत्र में आए उन दिनों एक बार कुछ वर्षों के लिए समाचार-पत्र बंद हो गए थे। उन्हें यह अभाव खटका और उन्होंने सबसे पहले 'कवि-वचन-सुधा' (सन् १८६८ ई०) का निकालना आरंभ किया। इसमें पहले केवल कविताओं का संग्रह निकलता रहा, परंतु पीछे गद्य-लेखों को भी स्थान दिया जाने लगा। पहले यह पत्रिका मास में एक बार, फिर दो बार और पीछे साप्ताहिक रूप में निकलने लगी। आगे चलकर उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (सन् १८७३ ई०) पत्रिका निकालनी आरंभ की जो आठ संख्याओं के उपरांत 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। भारतेंदु को स्त्रीशिक्षा और उनके सुधार की विशेष चिंता रहती थी। समाज में नारी-महत्त्व को

समझाने और उनकी बौद्धिक उन्नति के विचार से उन्होंने एक पत्रिका 'बालाबोधिनी' (सन् १८७४ ई०) निकालनी आरंभ की।

इन पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ अन्य उत्साहियों ने भी विभिन्न स्थानों से अन्य समाचार-पत्र निकाले। सदानंद सनवाल ने सन् १८७१ ई० में अलमोड़ा से 'अलमोड़ा-अखबार', कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने सन् १८७२ ई० में कलकत्ते से 'हिंदी-दीप्ति-प्रकाश', केशवराम भट्ट ने इसी साल विहार से 'विहार-बंधु' और श्रीनिवासदास ने दिल्ली से सन् १८७४ ई० में 'सदादर्श' निकाला। इसके उपरांत तो अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। सन् १८७६ ई० और सन् १८८५ ई० के भीतर प्रायः पचीस-तीस समाचार-पत्र और ऐसी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं जिनमें समाचारों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ निबंध इत्यादि अन्य साहित्यिक रचनाएँ भी निकला करती थीं। इनमें अधिकांश तो अल्प-जीवी थीं जो कुछ दिन चलकर समाप्त हो गईं, परंतु उनमें कुछ ऐसी भी थीं जो कुछ दिनों तक लगातार काम करती रहीं, जैसे—ब्राह्मण, आनंदकादंबिनी, हिंदी-प्रदीप, उचितवक्ता, भारतमित्र और विहार-बंधु इत्यादि तो कई वर्षों तक प्रकाशित होते रहे। इनमें प्रथम तीन पत्र तो शुद्ध साहित्यिक थे जिनसे हिंदी के आरंभिक निबंधों और समालोचनाओं का उद्भव मानना चाहिए।

ये समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ भारतवर्ष के संपूर्ण उत्तराखंड में फैल गईं। लाहौर से कलकत्ता और उदयपुर, अजमेर तथा जबलपुर तक इनकी धूम मच गई। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली बात चरितार्थ हुई। इतने व्यापक उत्साह और विस्तार के साथ जिस महत् उदय का प्रस्ताव हो उसकी सफलता पर संदेह नहीं हो सकता। हिंदी के प्रसार के लिए यह अवसर अवश्य ही अत्यंत अनुकूल था। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाज का जो प्रचार-कार्य चल रहा था उसने भी हिंदी के विस्तार में योग दिया। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, भाषणों और उपदेशों में प्रयुक्त होकर हिंदी भाषा का बल बढ़ने लगा। उसमें परिमार्जन, प्रवाह, स्थिरता, व्यंजना-सौंदर्य और

ग्रहण-शक्ति का संचय होने लगा। उसके संपूर्ण अवयव पुष्ट होने लगे और उसकी स्फुरण-शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। भाषा के संस्कार और अभिवृद्धि के लिए तो बहुत-कुछ शीघ्र ही हो गया।

यह तो हुई भाषा के संबंध की बात, अब साहित्य और उसके विषय-पक्ष की स्थिति का विचार करना चाहिए। भारतेंदु के पूर्व जो कुछ लिखा गया था वह तो प्रस्तावना मात्र था। यथार्थतः विषय के विचार से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। हाँ—भाषा का वृद्धिक्रम स्थापित करने के लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है। स्कूली पुस्तकें और अन्य विषयों पर जो कुछ लिखा गया था उसमें केवल विषय-प्रवेश भर दिखाई पड़ता था। हिंदी के गद्य-साहित्य का वास्तविक उदय हरिश्चंद्र-काल में ही हुआ। शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ इसी काल में आरंभ हुईं। यों तो कहानी और उपन्यास की रचना भारतेंदु के पूर्व ही आरंभ हो गई थी परंतु अटूट रूप में विविध विषयों की रचनाएँ उन्हीं के समय में निकलीं। स्वयं हरिश्चंद्रजी ने अनेक विषयों पर लिखा और अपने उद्योग तथा प्रेरणा से न जाने कितनी चीजें तैयार कराईं। इनके समय के लेखक-मंडल ने नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि साहित्यिक विषयों पर इतना अधिक लिखा कि दुर्बलकाया गद्यसरिता पूर्णभरिता और प्रवहशीला बन गई।

उस काल के प्रायः सभी लेखक किसी न किसी पत्र के संपादक थे। उनको प्रतिसप्ताह, प्रतिपक्ष अथवा प्रतिमास इतना अवश्य ही लिखना पड़ता था कि उनकी पत्रिका का पेट भर जाता। इन पत्र-पत्रिकाओं में सभी प्रकार की रचनाओं के नमूने मिलते हैं; कहीं समाचार-संग्रह, कहीं हास्य-विनोद, कहीं निबंध, कहीं आलोचना। ऐसी अवस्था में इन संपादक-लेखकों को विविध विषयों पर कुछ तुरंत लिखने की क्षमता अपने में बनाए रखनी पड़ती थी। यही कारण है कि इनमें उत्साह और सजीवता तो अत्यधिक दिखाई पड़ती थी, परंतु विषय-प्रतिपादन में गंभीरता एवं परिमार्जन नहीं मिलता। इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि न तो उस काल में इसकी आवश्यकता थी और न

विकास-क्रम के विचार से यह प्रकृत ज्ञात होता। इस काल का एकमात्र ध्येय यह था कि साहित्य के सभी रचना-प्रकारों का रूप खड़ा हो, भाषा का लिखित और सामान्य रूप विस्तार पाए और लोगों में साहित्य का आरंभिक बोध तथा प्रेम उत्पन्न हो। अपने इस ध्येय की पूर्ति में यह लेखक-मंडल बड़े उत्साह से लगा। उस समय हरिश्चंद्र-मंडल में प्रमुख ये लोग थे—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', तोताराम, जगमोहन सिंह, श्रीनिवासदास, अंबिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी। यह लेखक-मंडल प्रतिभा-संपन्न, उत्साही और सिद्ध था। इन लेखकों की यह प्रधान विशेषता थी कि इनकी रचनाओं में अपना निरालापन और सजीवता होती थी। भाषा में कहीं-कहीं प्रांतिकता और दोष रहने पर भी प्रवाह और व्यावहारिकता रहती थी। ये लोग साधारण, चलते और व्यावहारिक विषयों पर बड़ी अनुरंजनकारी और सुसंबद्ध रचनाएँ तैयार करते थे। विषय की व्यावहारिकता के साथ-साथ वस्तु-निवेदन का ढंग भी सरल एवं व्यक्तित्व-पूर्ण होता था।

हरिश्चंद्र-काल के भीतर तीन प्रमुख बातें हुईं। भाषा का संस्कार साहित्य का रूप खड़ा करने का सर्वोत्तम साधन था। इसको संघर्ष और अनिश्चितता के अंधकार में से बाहर निकालकर लोकक्षेत्र में स्थिर और व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का संपूर्ण श्रेय भारतेंदु को है। उन्होंने नाटकों एवं अन्य विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता का अच्छा प्रतिपादन किया। उनकी इस उद्देश्यपूर्ण चेष्टा का प्रभाव तत्कालीन अन्य सभी लेखकों पर अच्छा पड़ा। अधिकांश रचनाएँ एक सी भाषा मे प्रकाशित हुईं। भाषा का वह शिष्ट, सामान्य और प्रचलित रूप आगे चलकर निरंतर व्यवहृत होता रहा। कुछ दिनों के उपरांत वही रूप निखरकर और परिमार्जित होकर देवकीनंदन खत्री प्रभृति लेखकों से समादृत होता हुआ प्रेमचंद्र की रचनाओं तक चला आया। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रसार में भी भारतेंदु का ही कृतित्व मानना चाहिए। उन्हीं को

आदर्श रूप में स्वीकार करके और उनके उत्साह से प्रेरित होकर अन्य अनेकानेक समाचार और साहित्य-संबंधी पत्र प्रकाशित हुए और कुछ वर्षों के लिए हिंदी-साहित्य के आंदोलन ने सर्वतोमुखी जाग्रति उत्पन्न कर दी। भाषा और पत्र-पत्रिकाएँ आधार थीं और आधेय था गद्य-साहित्य का निर्माण तथा उसका विकासोन्मुख वृद्धि-क्रम। अपनी प्रतिभा, प्रभाव, लगन और संगठन-शक्ति के बल पर भारतेंदु हरिश्चंद्र ने थोड़े ही समय के भीतर वह उत्पादनशीलता दिखाई कि सर्वशून्य गद्य-साहित्य का क्षेत्र भरा-पुरा ज्ञात होने लगा। उनके मंडल के अन्य सहयोगियों ने बड़ी तत्परता से साहित्य-निर्माण में उनका साथ दिया। फलतः गद्य-साहित्य के विभिन्न अवयव उत्तरोत्तर बलवत्तर होते गए। नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, गद्य-प्रबंध इत्यादि सभी विषयों का प्रचलन हो गया। सन् १८६३ ई० से लेकर सन् १८९३ ई० के परिमित काल में ही जितना प्रचुर साहित्य हिंदी में निर्मित हुआ स्यात् ही किसी साहित्य के इतिहास में केवल तीस वर्षों के भीतर इतना हुआ हो। यह हिंदी-गद्य-साहित्य का उदय-काल था और इन तीस वर्षों के सूत्रधार थे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र। उनकी बहुमुखी प्रतिभा सच्चे युगप्रवर्तक के रूप में संपूर्ण साहित्यिक क्षेत्र का नियंत्रण करती रही अतएव यदि इस आरंभ-युग को हरिश्चंद्र-काल अथवा युग कहा जाय तो किसी प्रकार भी अनुचित न होगा।

———

भारतेंदु के नाटकों में युगधर्म

यों तो नाटक-रचना भारतीय साहित्य की प्राचीन विशेषता है, परंतु संस्कृत भाषा में लिखे नाटकों का और प्राचीन नाट्यशास्त्र-विहित पद्धति का अनुसरण हिंदी के नाट्यकारों ने उतनी कड़ाई से नहीं किया। संस्कृत भाषा में नाट्य-रचना की परंपरा जिस समय समाप्त हो गई थी उसके बहुत दिनों के उपरांत नए सिरे से हिंदी में नाटक-ग्रंथों का प्रणयन आरंभ हुआ। उसमें भी अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो काव्य की कोटि में आएँगी—उनके नामकरण में भले ही नाटक शब्द का प्रयोग किया गया हो। हिंदी-खोज के विवरण में तो नाटकनामधारी कई कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है, परंतु वे प्रायः सभी ब्रजभाषा में लिखी गई हैं और सभी पद्यमय हैं। इसके अतिरिक्त उनमें नाटक के मूल तत्त्वों का कोई आधार भी नहीं मिलता। कहने का तात्पर्य यह है कि इनका उल्लेख नाटकों की श्रेणी में नहीं होना चाहिए। जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार-नाटक', प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक', व्यासजी के शिष्य देव कृत 'देवमायाप्रपंच', अंतर्वेदनिवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुंतला', रघुराम नागर का 'सभासार', कृष्णजीवन लछीराम कृत 'करुणाभरण', लल्लूलालजी के वंशधर हरिराम का 'जानकीराम-चरित नाटक,' बांधवनरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद-रघुनंदन नाटक', बाबू गोपालचंद्र का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।*

---

* बाबू ब्रजरत्नदास कृत 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' प्रथम संस्करण का तृतीय प्रकरण।

अपने 'विद्यासुंदर' नाटक की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में भार-
तेंदु हरिश्चंद्रजी ने भी कुछ अपने पूर्ववर्ती नाटकों एवं नाटककारों
का विवरण दिया है। "निवाज का शकुंतला या ब्रजवासीदास का
प्रबोधचँद्रोदय नाटक नहीं काव्य हैं। इससे हिंदी भाषा में नाटकों की
गणना की जाय तो महाराज रघुराज सिंह का 'आनंद-रघुनंदन' और
मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रंथ भाषा में वास्तविक
नाटकाकार मिलते हैं, यों नाम को तो देवमायाप्रपञ्च, समय-सार इत्यादि
कई भाषा-ग्रंथों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है।" इनमें से प्रथम
दोनों का शास्त्रीय विवेचन तो इसलिए आवश्यक नहीं है कि वे नाटक
नहीं हैं। अन्य दोनों में नाटक की रूपरेखा तो प्राप्त होती है, परंतु
वे भी शुद्ध नाटक नहीं हैं। उनमें न तो नाटकों के अवयवों का
प्रयोग है और न रचना-पद्धति मे स्थिरता दिखाई पड़ती है।

आनंद-रघुनंदन (सन् १८७१ ई०) में रामचंद्र के राज्याभिषेक तक
का इतिवृत्त कथानक के रूप में रखा गया है। रामचरितमानस के
अनुरूप संपूर्ण कथा सात अंकों में विभाजित की गई है। इतिवृत्त के
भीतर आनेवाली अनेक घटनाओं की नाटकीय एवं तर्कसंगत व्यवस्था
नहीं की गई, जिसका परिणाम यह दिखाई पड़ता है कि कथानक का
विकास न होकर घटनाओं का जमघट भर रह गया है। उनका क्रम
अवश्य ही इतिहासप्रसिद्ध है। चिरपरिचित नामावली के स्थान पर
गढ़े हुए जो नाम कल्पित और प्रयुक्त हुए हैं वे मजाक मालूम पड़ते
हैं। प्रसिद्ध लक्ष्मण इस नाटक में आकर 'डोलधराधर' और भरत
'जगडहडहकारी' बन गए हैं। संपूर्ण नाटक को पढ़कर वीर रस का
कुछ आभास मिलता है। चरित्र-चित्रण का विचार प्रायः नहीं ही रखा
गया। पात्रों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका नाम स्मरणरख ना
कठिन है। इसका एक कारण यह भी है कि उनके चरित्र की प्रमुख
विशेषता का भी स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। यों तो कहीं कहीं भाषा की
अनेकता प्राप्त होती है परंतु प्रधानता ब्रजभाषा की है। बीच-बीच में
जो नाटकीय निर्देश दिए गए हैं वे संस्कृत मे हैं। इसके अतिरिक्त भाषा

काव्यात्मक और अभिव्यंजना अलंकार-प्रधान है।

"सूत्रधारो विस्मितः (क्षणमनुध्याय आकाशे कर्णं दत्वा)—कहा कहियतु है।"

गद्य—"भारगन सुगंध सलिल सिंचावो गिलिम बिछाओ सिंघासन गद्दी धरावो सकलछितियेकछत्र सर्व छितिपति नछत्र नछत्रपतिसे दिगजान महाराज आवै हैं।" पृ० ३

पद्—"महल महल चहल पहल वहल मैं गलन गैल गैल कोलाहल सैल उसलत चलत अरावन खलभलित भल सिंधुजल उच्छलत हलल हलल भूगोल कोल कलमलित वोल मुख न कढ़त लोल सीस व्याल ईसहूँ भयो।" पृ० १३२

'नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) की रचना भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद ने की। इसका केवल आरंभिक अंश प्राप्त है, जो 'कवि बचन-सुधा' के पहले वर्ष के प्रथम अंक में छपा था। इसकी भी रूप-रेखा काव्य की सी है, परंतु 'आनंद-रघुनंदन' की अपेक्षा यह कृति कहीं अधिक स्पष्ट नाटकात्मक है। प्राप्त अंश में केवल प्रस्तावना और प्रथम अंक हैं। इतने अंश के आधार पर दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि "यह नाटक संस्कृत नाटकों के समान नाट्यकला के सभी अंग-प्रत्यंगों से युक्त है।" जिस स्थल पर पहुँचकर नाटकों में सौकर्य और कौशल देखा जाना चाहिए उससे बहुत पूर्व ही नाटक समाप्त हो जाता है। प्रथम अंक तो परिचय में निकल जाता है। उसमें प्रधान फल का आभास तथा विशिष्ट पात्रों का साधारण गुण-कथन भर रहता है। इस नाटक में गद्य का प्रयोग 'आनंद-रघुनंदन' से अधिक है, और वह भी अधिक सुबोध। पद्य का प्रयोग फिर भी गद्य से अधिक है। भाषा कहीं-कहीं तो काव्य-प्रधान हो गई है पर साधारणतः चलती है। संपूर्ण नाटक में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। निर्देश इसमें भी संस्कृत भाषा में ही रखे गए हैं।

"(नान्यन्ते सूत्रधारः)

सूत्रधार—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनौ। बिविध विबुध वृंदारकवृंद-वंदित वृंदावन-वल्लभ व्रजवनिता बनजवनी विभाकर वंसीधर विधिवदन-चकोर चारु-चतुर-चूड़ामणि चर्चित चरण परमहंस प्रसंसित मायावाद-विध्वंसकर श्रीमत् वल्लभाचार्य वंस अवतंस श्रीगिरिधर जी महाराजाधिराज ने मोंकों आज्ञा दीनी है। सो मैं गिरिधरदासकृत नहुष नाटक आरंभ करौं हौं।

(तब आगे बढ़ि हाथ जोरि कै)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने अपने पच्छन क रच्छन म परम विचच्छन दच्छ हैं इनके समच्छ इह ढिठाई है तथापि कृपा कर सब सुनौ।"

इन दोनों रचनाओं में प्रथम तो नाटकीय पद्धति पर लिखा काव्य है। उसमें काव्य-पक्ष की विशेषताएँ अधिक मिलेंगी और नाट्य-रचना की अत्यंत न्यून। द्वितीय कृति अपूर्ण होने के कारण विचार-क्षेत्र में नहीं आती। ऐसी स्थिति में हिंदी का प्रथम नाटककार भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को ही मानना चाहिए। उनके समय से आगे फिर नाटक-रचना की परंपरा सी चल पड़ती है। स्वयं उन्होंने अनेक मौलिक कृतियों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया। यह हिंदी-गद्य-साहित्य का उदय-काल था। ऐसे समय में इतने समर्थ और कर्मशील लेखक का रचना-क्षेत्र में अवतीर्ण होना ही मंगल का स्वरूप था।

भारतेंदु ने केवल नाटक-रचना का आरंभ ही नहीं किया उसकी नींव स्थिर कर दी। उनके अनूदित नाटकों में अथवा नाट्यांशों में 'रत्नावली', 'पाखंड-बिडंबन' (प्रबोधचंद्रोदय का तृतीय अंश), 'धनंजय-विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'भारत-जननी', 'दुर्लभ बंधु' प्राप्त हैं। इन नाटकों का अनुवाद या तो स्वयं उन्होंने किया अथवा अपनी संरक्षकता और निर्देश में किसी दूसरे से कराया। इनमें से दो

नाटकों का खंड अनुवाद किया गया है। 'रत्नावली' का केवल आरंभिक अंश, 'प्रबोधचंद्रोदय' का केवल तृतीय अंक 'पाखंड-विडंबन' भर अनूदित है। अनुवाद में स्वतंत्रता का पर्याप्त प्रयोग हुआ है परंतु ऐसा परिवर्तन नहीं किया गया जिससे रस और मुख्य स्वरूप में व्याघात पड़ा हो। 'सत्यहरिश्चंद्र' और 'विद्यासुंदर' ऐसे नाटकों का विचार मौलिक कृतियों के साथ होना चाहिए क्योंकि मूल से इतना अधिक परिवर्तन किया गया है कि वे स्वतंत्र रचनाएँ ज्ञात होती हैं।

लेखक अपने समय का प्रतिनिधि और सच्चा समालोचक होता है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र भी इस स्वभाव-सिद्ध नियम के अपवाद नहीं थे। उनकी कृतियों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रगतियों का स्वरूप स्पष्ट अंकित है। उस समय अनेक लेखक, संपादक और सुधारक थे, परंतु सामाजिक कुरीतियों और पतन का, राजनीतिक उदासीनता और दुर्वलता का तथा धार्मिक पाखंड का मार्मिक चित्रण उन्होंने ही किया। यही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि उनके हृदय में देश का बौद्धिक ह्रास सदैव खटकता रहा। उस काल की साधारण परिस्थिति यह थी कि धनाढ्य और पठित नागरिक अंधकार में पड़े हुए भी अपने को सुखी समझ रहे थे। सरकार की ओर से अनेक प्रकार के अनुचित नियम-प्रतिबंध खड़े किए जा रहे थे, समाज और धर्म में अनेक कुत्सित रीतियाँ, ढोंग और अनाचार अपने अजेय दुर्ग स्थापित कर नित्य भय का प्रदर्शन कर रहे थे, परंतु किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि दृढ़तापूर्वक और निर्भय होकर विरोध में दो-चार शब्द भी कहता या लिखता। इसे ईश्वर की प्रेरणा ही समझनी चाहिए कि ऐसे समय में भारतेंदु के रूप में एक उत्साही, त्यागी और निर्भीक आलोचक का प्रादुर्भाव हुआ। इसने कुरीतियों, दुर्वलताओं, दासता और पापाचार का कठोर शब्दों में स्पष्ट विरोध किया।

यों तो भारतेंदुजी को जहाँ कहीं भी अवसर और स्थिति अनुकूल दिखाई पड़ी, वहीं उन्होंने 'उपधर्म छूटे, स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख वहै' 'नारि नर सम होहिं' कहा, परंतु अपने समय की घटनाओं,

परिस्थितियों और प्रगतियों का विशेष रूप से चित्रण तथा आलोचन उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत-दुर्दशा' और 'अंधेर-नगरी' में किया। इन रचनाओं में कथानक इस प्रकार के रखे गए हैं कि जिनके प्रवाह में ऐसे प्रायः सभी आलोच्य विषय आ गए हैं जिनकी ओर भारतेंदुजी समाज की दृष्टि आकर्षित करना आवश्यक समझते थे।

'विषस्य विषमौषधम्' का विषय एक-देशीय है। महाराज मल्हार-राव को अपने असत् आचरण के कारण राज्य-सिंहासन का त्याग करना पड़ा। इस घटना का प्रभाव न तो वस्तुतः समाज से संबंध रखता है और न धर्म से ही, परंतु फिर भी इस पर कुछ कहना इस विचार से आवश्यक था कि एक प्रसिद्ध घटना के मूल में कार्य-प्रणाली का सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। आलोचक का यह कर्तव्य है कि ऐसे सिद्धांतों के औचित्य-अनौचित्य पर अवश्य विचार करे।

इस अंश में महाराज मल्हारराव को लक्ष्य बनाकर लेखक ने बड़ी चातुरी से अंग्रेजी सरकार की कड़ी आलोचना की है। साधारण रूप में तो यही दिखाई पड़ता है कि गायकवाड़ बड़ोदा-नरेश की एकांगी ढंग से बुराई ही बुराई का उल्लेख हुआ है, परंतु विचारपूर्वक देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि लेखक केवल परछिद्रान्वेषी नहीं है—जैसा कुछ लोगों का विचार है। इस घटना को लक्ष्य बनाकर लेखक ने अंग्रेजी सरकार की पक्षपातपूर्ण उद्दंड नीति की भी आलोचना की है। "पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सरकार ध्यान नहीं रखती। राम-पुर में दुरंत यवन हिंदुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजाने देते, पर सरकार इस बात की पुकार नहीं सुनती।" "धन्य है ईश्वर! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आए थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।" "सन् १६१७ में जब सरकार से सब मरहठे मात्र बिगड़े थे तब सिर्फ बड़ोदेवाले साथ थे। उनके कुल की यह दशा!", "राजा और देव बराबर होते हैं, ये जो करें देखते चलो बोलने की तो जगह ही नहीं।" इत्यादि वाक्यों में

सरकार की कृतघ्नतापूर्ण स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का घोर विरोध हुआ है। बाबू हरिश्चंद्रजी के समय में भारतवासी अपने अधिकारों के प्रति न तो चैतन्य ही हुए थे और न अन्याय के विरोध में ही निर्भीक थे। राष्ट्रिय जाग्रति का वह आरंभिक काल था। उस समय भारतेंदु ने उपर्युक्त शब्दों में जो आलोचना की वही समयोचित और नीति-युक्त थी। उस समय इतना भी कहना बड़े साहस का काम था।

'अंधेर-नगरी' में न्याय की छीछालेदर दिखाने का अच्छा अवसर मिला। मूर्ख शासक अपनी झक में न्याय शब्द का आश्रय लेकर कितना अंधेर करते हैं; दोषी और निर्दोषी का बिना विचार किए निर्णय करते हैं। न्याय उनके लिए खिलवाड़ है। न्याय के नाम पर किसी-न-किसी को दंड मिलना आवश्यक है, अन्यथा न्याय न होगा। "हुक्म हुआ है कि एक मोटा आदमी पकड़ कर फाँसी दे दो" क्योंकि बकरी मारने के अपराध में 'किसी न किसी' को दंड मिलना आवश्यक है। वह चाहे यह भी न जानता हो कि शासक की यह अनूठी कृपा उसपर किस लिए हुई। पतित शासक न्याय की हत्या इसी प्रकार करते हैं। ऐसे शासन में रहना प्रजा के लिए सदैव घातक है। न्याय के इस परिहास के अतिरिक्त इस प्रहसन में सदा की भाँति, सिद्ध आलोचक की दृष्टि से अन्य आलोच्य विषय छूटे नहीं हैं। "जैसे काजी वैसे पाजी।" "ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।" "हमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेजों का दाँत खट्टा हो गया। नाहक को रुपया खराब किया। हिंदुस्तान का आदमी लक-लक 'हमारे यहाँ का आदमी बुंबुक-बुंबुक" "चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता।" "चूरन पूलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।"

'अंधेर-नगरी' में सारा फेर-फार टके का दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि लेखक को 'टके' का महत्त्व दिखाना आवश्यक हो गया। साथ ही वर्तमान संसार में 'टके' का मूल्य कितना बड़ा है तथा आज दिन तो टका ही सब वस्तुओं का माप-दंड बन गया है। टके के पीछे सभी पागल दिखाई पड़ते हैं। उसमें असीम शक्ति है। "एक

टका दो हम अभी अपनी जाति बेंचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के नाते जैसी कहो, व्यवस्था दे दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेंचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को पितामह बनावें। वेद, धर्म, कुल-मर्यादा, सचाई बड़ाई सब टके सेर।" एक ब्राह्मण के मुख से ऐसी बात कहलाकर लेखक ने सब बातें स्पष्ट कर दी हैं। वर्तमान काल में सब भावों के केंद्र में शक्ति-रूप 'टका'-ही है। टका ही के आधार पर धर्म-अधर्म, मान-मर्यादा, ऊँच-नीच सब स्थित है। लेखक को यदि समय और अवसर मिला तो उसने यह दिखला दिया कि रुपये-पैसे के पीछे किस प्रकार संसार अंधा हुआ है। सर्वोपरि पैसा ही है।

उपर्युक्त दोनों नाटकय रचनाओं में भारतेंदुजी वस्तुतः आलाचक के रूप में संमुख नहीं आए। एक में कथांश व्यक्तिगत है अतएव एक-देशी है और दूसरे में कथानक रूपक का आधार लेकर खड़ा हुआ है, इस प्रकार स्पष्ट आलोचना नहीं हो सकी। समाज, राष्ट्र और धर्म की सच्ची आलोचना 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'भारत-दुर्दशा' नाटकों में है। इसमें प्रायः धर्म-संबंधी विषय ही हैं। माँस-मदिरा का व्यक्त रूप लेकर और कथानक को उसी आधार पर खड़ा कर लेखक ने समाज की अनेक दुर्बलताओं के साथ-साथ धर्म के पाखंडों का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।" "अनामर्च्य पितॄन् देवान्।" "मद्याजी मां नमस्कुरु" "कलौ पराशरी स्मृतिः" "अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः" की भी अच्छी छीछालेदर दिखाई है। इन प्रवचनों का स्थूल और वाच्यार्थ लेकर आज धर्म-संसार में किस प्रकार अनाचार फैला है अथवा इन कथनों का बल पाकर समाज कितनी भयंकर उच्छृंखलताओं का केंद्र बन रहा है, इसकी सच्ची आलोचना हुई है। धर्म का ढोंग बनाकर किस प्रकार संसार की आँखों में धूल झोंकी जाती है इसका मंत्री और

पुरोहित इत्यादि द्वारा लेखक ने स्पष्ट चित्रण किया है। किस प्रकार मंत्री और पुरोहित ऐसे सलाहकार कर्म-विधायक और ज्ञानदाता अपने कर्तव्य से च्युत और स्वयं पाप में पतित होकर दूसरे को भी उसी प्रकार का आदेश तथा मत देते हैं कि वे भी उसी ओर चलकर उनके स्वार्थ-साधन में योग दें। ये धर्म के प्रतिनिधि और सलाहकार अपने पक्ष के समर्थन में समाज के प्रचलित रूप को खड़ा करते हैं। लेखक ने ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी की हैं कि प्रच्छन्न रूप में कहने का अवसर तो मिले ही, साथ ही अपनी नित्य की दृष्टि में आनेवाले दृश्यों का भी रहस्योद्घाटन हो जाय। उसे नित्य के जीवन में जो भीरुता और सामाजिक दुर्बलता दिखाई पड़ती है उसका कठोरतापूर्वक प्रत्यक्ष विरोध करता है। उसका कहना है कि "ऐसा कौन सा यज्ञ है जो बिना बलिदान का है और ऐसा कौन सा देवता है जो माँस बिना ही प्रसन्न हो जाता है और जाने दीजिए इस काल में ऐसा कौन है जो माँस नहीं खाता? क्या छिपा के, क्या खुले-खुले, अंगोंछों में माँस और पोथी के चोंगे में मद्य छिपाई जाती है। उसमें जिन हिंदुओं ने थोड़ी भी अंगरेजी पढ़ी है या जिनके घर में मुसलमानी स्त्री हैं उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं।" इस प्रकार अपने समाज की इन दुर्बलताओं तथा नित्य की भीरुताओं की इतने स्पष्ट शब्दों में आलोचना करनेवाले उस समय केवल बाबू हरिश्चंद्र ही थे। वे भली-भाँति जानते थे कि इन दुर्दमनीय दुर्बलताओं के कारण हमारा राष्ट्रिय चरित्र-बल नित्य-प्रति नष्ट-भ्रष्ट ही होता जा रहा है। जितनी मार्मिकता से और जितने कठोर शब्दों में उन्होंने यह संवाद लिखा है, वही इस बात को स्पष्ट करता है कि इस विषय में उनका हृदय कितना दृढ़ था।

इसके अतिरिक्त गंडकीदास का स्वरूप सम्मुख खड़ा कर प्रत्यक्ष वैष्णव और प्रच्छन्न व्यभिचारियों का अच्छा परिचय दिया गया है। हमारे समाज में गंडकीदासों की कमी नहीं है ऐसे व्यक्ति हमारी दृष्टि में नित्य आया करते हैं जो अपनी नीचताओं और दुर्बलताओं के गोपन में शक्ति भर सचेष्ट हैं। वे चेष्टा करते रहते हैं कि उनके काले हृदय की आभा किसी प्रकार बाह्य आकार-प्रकार पर न पड़ने पाए।

ऐसे अव्यक्त पापाचारी समाज के लिए बड़े ही घातक सिद्ध होते हैं ये ही समाज के नैतिक पतन के प्रधान कारण हैं। ऐसों की आलोचना लेखक ने बड़े भावुक ढंग से की है।

"गंडकीदास—(धीरे-धीरे पुरोहित से) अजी, इस सभा में हमारी प्रतिष्ठा न बिगाड़ो। वह तो एकांत की बात है।

पुरोहित—वाह, इसमें चोरी की कौन सी बात है ?

गंडकी०—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शैव बैठे हैं।"

इतने ही शब्दों में लेखक ने सब कुछ कर डाला। अंतिम दृश्य में यम की न्यायशाला का चित्र है। यही नाटक का मूलाधार है। इसमें लेखक ने राजा, मंत्री, पुरोहित तथा बाबा गंडकीदास का सच्चा रूप दिखाकर उनकी आलोचना की है। चित्रगुप्त ने एक-एक का जो पृथक् पृथक् परिचय दिया है, वह अत्यंत स्पष्ट है। शासन, न्याय और व्यवस्था के प्रतिनिधि राजा की वास्तविक स्थिति यह है कि "जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीवों का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गयापर आड़ सदा धर्म की रखी; अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्मजाल किया, जिसमें माँस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले और परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।"

शुद्ध नास्तिक, केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहननेवाले पुरोहित की स्थिति यह है कि "शुद्ध चित्त से कभी ईश्वर पर विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाए उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा-मात्र दे दीजिए, फिर जो कहिए उसीमें पंडितजी की सम्मति है, केवल कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग से माँस-मद्य का भी बहुत सेवन किया। सैकड़ों जीव अपने हाथ से बध कर डाले।"

जीवन-यात्रा में राजा के सलाहकार, कार्यकर्ता और मृत्युलोक की कचहरी के घूसखोर मंत्री का परिचय यह है कि "इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाया, मुँह पर स्तुति पीछे निंदा अपना घर बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े, घूस लेते जन्म बीता, माँस और मद्य के बिना इसने न और धर्म जाने और न कर्म जाने—यह मंत्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो पहले संमति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।"

"दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहकर और लंबा-लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगनेवाला धर्म-वंचक 'गंडकीदास' गुरु लोगों में हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिए, केवल दंभार्थ इनका तिलक, मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आयीं उनको सर्वदा तकते रहे, इन्होने अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं रामचंद्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण और तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती हैं।"

इन परिचयों से निर्विवाद सिद्ध है कि लेखक की दृष्टि में आलोच्य लक्ष्य स्थूल है। वह केवल सिद्धांत के स्पष्टीकरण के विचार से उदाहरण नहीं दे रहा है। वास्तव में उसने एक-एक के जीवन का व्यावहारिक जगत् में अच्छा परिचय प्राप्त किया है। किसी राजा के जीवन को उसने अपनी आँखों देखा है और फिर ऐसे व्यक्तियों की कमी भी नहीं। वर्णन के अनुसार राजा और धनिकों के सलाहकार मंत्री और बुद्धि-दाता भी नित्य दिखाई पड़ते हैं। पुरोहित और धर्माचार्य भी अधिकांश इसी प्रकार के धर्मवंचक मिलते हैं। अपने समय के मठाधीशों, पंडे, पुजारियों और दंडधारी धर्मात्माओं के अनुरूप गंडकीदास का स्वरूप है। लेखक ने इस दृश्य में अपने समय के धर्म-गुरुओं, राजाओं और कार्य-कर्ताओं के कर्तव्यहीन जीवन का अनुभवपूर्ण परिचय दिया है।

इन प्रच्छन्न आलोचनाओं के अतिरिक्त बाबू हरिश्चंद्रजी ने सदा

की भाँति इस नाटक में भी अपनी समकालीन प्रगतियों, व्यक्तियों और घटनाओं पर प्रत्यक्ष व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष किए हैं:—"और सुनिए मंदिरों को अब लोग कमेटी कर के उठाया चाहते हैं।" "मदिरा ही के पान हित, हिंदू धर्महिं छोड़ि। बहुत लोग ब्राह्मो बनत, निज कुल सों मुख मोड़ि।" "महाराज सरकार अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको स्टार आफ इंडिया की पदवी मिलती है।" "मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेंद्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि माँस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिंदू सब खाते पीते थे। आप चाहे एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगा लीजिए।" इन व्यंग्यों से उनका अभिप्राय Temprence Committee, ब्रह्मसमाज, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' और और समाज-सुधारकों में अग्रगण्य बा० राजेंद्रलाल मित्र से है। भारतेंदुजी खरी-खोटी सुनाने में निपुण थे; अपने से बड़े-छोटे और समाज-संस्था जिस किसी का भी विरोध किया सीधे और कड़े शब्दों में। इतना निर्भीक और स्पष्टवक्ता उस समय के साहित्य-संसार में कोई नहीं था।

'भारत-दुर्दशा' नाटक में लेखक ने स्वच्छंद होकर समकालीन समाज, देश, राजनीति, धर्म, वेदांत आदि की अच्छी टीका-टिप्पणी की है। सुधारवादियों के सिद्धांत और औपचारिक व्याख्यानों का भी रूप खींचा है और उनकी हृदय-स्थित भीरुता और अकर्मण्यता का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। इस नाटक में जैसा प्रत्यक्ष आक्षेप भारत की राजनीतिक-दुर्दशा और नैतिक पतन पर लेखक ने किया है, साथ ही समय का जैसा सम्यक् आलोचन इसमें दिखाई पड़ता है, वैसा आज तक कोई नाटककार नहीं कर सका। यह नाटक भारतेंदु की शक्ति, साहस तथा नाटक-रचना की निपुणता का अच्छा उदाहरण है। एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने भारत की सर्वदेशीय दुर्दशा के कारणों का मार्मिक विवेचन किया है। किस प्रकार भारतीय जन-समुदाय अंग्रेजी सरकार की राजनीतिक चालों और अपनी दुर्बलताओं

के कारण त्रस्त और दरिद्र होता है, इसका स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख इस रचना में किया गया है। हमारे धार्मिक अंध-विश्वासों और संकुचित भावों ने अनेक बखेड़े खड़े कर दिए हैं। ये बखेड़े हमारी दुर्दशा की अनेक प्रकार से अभिवृद्धि कर हमें नित्य पतन की ओर ढकेलते जा रहे हैं।

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति-बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यौ।
विधवा-ब्याह-निषेध कियौ व्यभिचार प्रचार्‌यौ।
रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।"

धर्म ने इतना तो किया ही और इसके अतिरिक्त "रचि के मत वेदांत कौ, सब को ब्रह्म बनाय। हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय।"

संतोष और तटस्थ रहने की घातक प्रवृत्ति की उद्भावना का आधार यही वेदांतवाद है। इतना ही नहीं भारत की दुर्दशा के अनन्य मित्र और सहयोगी भी हैं—अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश ने भी पतन में कम सहायता नहीं की। "अपव्यय ने भी खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। एक तो खुद ही सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा हुआ, धायँ-धायँ गिनी गई (सलामी मिली), वर्णमाला कंठ

कराई (सी० आई० ई० आदि उपाधियाँ मिलीं)। बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।" इन प्रत्यक्ष शत्रुओं के अतिरिक्त ऐसे अनेक विपाक्त कीटाणु हमारे नैतिक और व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट हो गए हैं जो नित्य उसके सुख और महत्त्व को खाते जाते है। वे फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक इत्यादि हैं। इन शत्रुओं ने हमारे संगठन-बल, उदार भावना और विश्वबंधुत्व का सर्वथा नाश कर पूर्ण रूप से हमें निबल और अशक्त बना दिया।

सामाजिक और धार्मिक पतन के साथ-साथ यहाँ की मर्यादा और संस्कृति के रक्षक रजवाड़ों की भी शोचनोय दशा है। उनका भी नित्य पतन ही होता जाता है; वे अब निर्जीव-से हो गए हैं। लेखक की दृष्टि सच्चे समालोचक के अनुसार सर्वतोमुखी है। किसी भी पक्ष को वह छोड़ नहीं सकता। अपने वीर यशस्वी शासकों का स्मरण करते हुए उसने वर्तमान राजाओं के नैतिक पतन का भी थोड़े में उल्लेख किया है:—

..................अब तो सब नृप मौन।
वही उदयपुर, जैपुर, रीवाँ पन्ना आदिक राज।
परवस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल के काज।
अंगरेजहु को राज पाइ कै रहे कूढ़ के कूढ़। इत्यादि

इस नाटक का पाँचवाँ दृश्य बहुत ही सुंदर और उपयोगी है। इसमें हमारे समाज के कर्णधार, सुधारक, कवि, सभापति, एडीटर इत्यादि के दयनीय मौखिक उत्साह का अच्छा चित्रण किया गया है। सभा में बैठकर ये लोग कैसी लंबी-चौड़ी बात-चीत, व्याख्यान और उत्साह दिखाते हैं, परंतु यदि किसी प्रकार कष्ट और भय का सामना हो जाय तो "बाज झपट जनु लवा लुकाने" की भाँति "हम नहीं" "हम नहीं" चिल्लाते हुए भाग खड़े होते हैं।

व्याख्यान के मंच पर खड़े होकर उपदेश देने में सभी पंडित हैं, परंतु कोई स्वयं कर्मशील दिखाई नहीं देता। 'कोई भारत-दुर्दैव से बचने के लिए हाथ में चूड़ी पहनकर स्त्री-रूप में अपनी रक्षा करना चाहता है। एडीटर तो एडूकेशन की सेना, कमेटी की फौज, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोलों से काम लेने की सोचता है। बंगाली केवल गोलमाल कर के गवर्नमेंट को भय-भीत करना चाहता है। कवि केवल इस विश्वास पर अपना फैसला छोड़कर कोट-पतलून पहनने की बात विचारता है कि भारत-दुर्दैव उसे अंगरेज समझकर छोड़ देगा। कैसा सुंदर व्यंग्य है।

लेखक ने अंगरेजी सरकार की भी कड़ी आलोचना की है। प्रत्यक्ष उदाहरण देकर उसने दिखाया है कि सरकार आँख-कान बंद कर निर्णय करती है। प्रजा के स्वार्थ की बात पीछे रखकर प्रथम अपने स्वार्थ-साधन में निरत रहती है। जहाँ किसी प्रकार भी अपना अहित देखती है तुरंत स्वच्छंदता से काम लेती है—अन्याय और अनियमित रूप से प्रतिकार करती है। सभी भयभीत रहते हैं "कि इस सभा में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?" गवर्मेंट के अनुसार भारत-दुर्दैव कहता है, "कुछ पढ़े-लिखे देश सुधारा चाहते हैं। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।" ऐसे लोगों को किस कानून से पकड़ने का अधिकार है यदि यह प्रश्न उठे तो तुरंत उत्तर मिलता है कि "इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।" कितना कठोर और खुला हुआ आक्षेप है। इसी प्रकार एक नहीं अनेक स्थानों पर लेखक ने अंग्रेजी सरकार की अंतरमुखी चालों का रहस्योद्घाटन किया है। उसने भारत की दुर्दशा का प्रधान कारण इस नयी शासन-व्यवस्था को ही माना है। समस्त ऐश्वर्य-विभव विदेश में जा रहा है, इसका उसे दुःख है—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा-हा री
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई। इत्यादि।

इस प्रकार की सर्वतोमुखी आलोचना आजतक किसी लेखक ने नहीं की। भारतेंदुजी अनेक पथ के आदर्श थे। यह सभी को मानना पड़ता है। वे सामयिक धर्म की आलोचना के क्षेत्र में भी अग्र-गण्य थे।

—

चंद्रावली

भारतेंदु की रचनाओं में 'चंद्रावली' का विशेष स्थान है। इसमें इनकी काव्य-रचना का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है। साथ ही इस बात के समझने का भी पूरा अवसर मिलता है कि उनमें किसी सिद्धांत को सजीव ढंग से प्रत्यक्ष करने की कितनी क्षमता थी। उस कृति में नाटककार का व्यक्तित्व अधिक स्फुट हुआ है, उसकी प्रेमचर्या और भावुकता का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ देश-काल की परिधि से परे होकर वह उन्मुक्तावस्था का अनुभव करता प्रतीत होता है। चित्तवृत्ति की एकोन्मुख द्रवता का मंगलमय एवं पुनीत चित्रण ही इस नाटिका का लक्ष्य मालूम पड़ता है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श और उसकी अवांतर स्थितियों का रूप साकार हो उठा है। इसमें भारतेंदु के हृदय की झाँकी और भाव-प्रवणता का योग मिलता है।

इसके अतिरिक्त इस नाटिका से इस बात का भी पता लग जाता है कि उनमें केवल शास्त्रीय विधान का ज्ञान ही नहीं था वरन् वे विधान के प्रयोग में भी पूरे पंडित थे। इस रचना को नाटिका संज्ञा देकर उन्होंने इसका निर्वाह भी अच्छे ढंग से किया है।

परिभाषा के अनुसार नाटिका उपरूपक का इतिवृत्त कवि-कल्पनाश्रित होता है और अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। इसमें चार अंक रहते हैं। धीरललित नायक कोई प्रख्यात राजा होता है और अंतःपुर से संबंध रखनेवाली अथवा संगीत-प्रेमी राजवंशीया कोई नवानुरागिनी

नायिका होती है। इस महिषी—महारानी—के भय से नायक का प्रेम शंकायुत रहता है और महारानी राजवंश की प्रगल्भ नायिका होती है जो निरंतर मान किया करती है। नायक नायिका का समागम उसी के अधीन रहता है। नाटिका में वृत्ति कैशिकी होती है और अल्प विमर्श अथवा शून्य विमर्श से युक्त संधियाँ होती हैं[1]।

नाटिका के उक्त गुण-धर्म के अनुकूल अधिकांश विशेषताएँ इस रचना में मिलती हैं। जिस रूप में चंद्रावली का इतिवृत्त यहाँ स्वीकार किया गया है वैसा इतिहास-पुराण में नहीं मिलता। अवश्य ही कृष्ण और अन्य पात्रों से हम अति प्राचीन काल से परिचित हैं। सारा भागवत संप्रदाय और हिंदी के कवि इस प्रकार के आख्यानों का उपयोग सदैव करते रहे हैं पर जिस रूप में कथानक का सारा उतार-चढ़ाव और परिस्थिति-योजना इस नाटिका में स्वीकार की गई है वह कविकल्पित है उससे किसी इतिहास-पुराण का संबंध नहीं। पात्रों में स्त्रियों की ही बहुलता है। पुरुष पात्रों में यों तो नारद और शुकदेव भी दिखाई पड़ जाते हैं पर रचना की व्यापार-शृंखला से उनका कोई संबंध नहीं; इसलिए उनकी गणना पात्रों में नहीं हो सकती। केवल कृष्ण ही एक पुरुष पात्र बच जाते हैं जिनका संबंध फल-प्राप्ति से है। परिभाषा के अनुरूप यह संपूर्ण वस्तुविधान चार अंकों में विभाजित

---

१. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरंकिका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शंकितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः संधयः पुनः॥

—साहित्यदर्पण ६७. २६२९–७२

है। नायक के भी धीरललित[1] होने में कोई शास्त्रीय आपत्ति नहीं हो सकती। नायिका चंद्रावली आवश्यक अपने धर्मों से संयुक्त है। पट्टमहिषी अथवा महरानी का कृतित्व अथवा स्वरूप प्रायः नहीं के समान है। 'शृंगारे कैशिकी' के अनुसार इस नाटिका में भी कैशिकी[2] वृत्ति का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है और विमर्श[3] संधि का सर्वथा अभाव है। प्रेमी-प्रेमिका की एकोन्मुख प्राप्ति में कोई अंतराय नहीं पड़ने पाया।

वस्तु

प्रथम अंक की कथा चंद्रावली और उसकी अंतरंग सखी ललिता के संवाद से प्रारंभ होती है। आत्मीयतापूर्ण और व्यक्तिगत बातचीत दोनों में चलती है। धीरे धीरे चंद्रावली अपने मर्म का अवगुंठन खोलती है और अपने प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख अपनी सखी से करती है। ललिता भी अपनी सखी की विवशता के कारण पूरी सहानुभूति के साथ उसे सहयोग देने का निश्चय करती है। इस प्रकार नाटिका के फल का बीज तैयार होता है और स्थिति का पूरा परिचय मिल जाता है।

द्वितीय अंक का सारा प्रसार चंद्रावली की विरहावस्था की कथा और चित्रण है। इसमें विप्रलंभ की विविध अंतर्दशाओं का सजीव और काव्यात्मक वर्णन है। वनदेवी, संध्या और वर्षा के योग से चंद्रावली के विरहोन्माद का जो विवरण वहाँ उपस्थित किया गया है उसमें मात्राधिक्य अवश्य है पर सच्ची भावुकता को खुल खेलने का भी अच्छा अवसर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः इस अंक में कार्य की प्रयत्ना-

---

१. निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्। —वही, ३—४२

२. या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥—वही, ४,१२

३. यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः॥—वही, ६, ७९—८०.

वस्था का स्पष्ट आभास मिलना चाहिए था। परंतु इसके लिए लेखक ने एक पृथक् अंकावतार[1] की व्यवस्था की है। उसमें प्रकारांतर से अपने प्रियतम के पास भेजे गए चंद्रावली के पत्र को प्रकाशित करके नाटककार ने प्रयत्न नाम की कार्यावस्था की सिद्धि की है मुख्य क्रिया को इस प्रकार गौण स्थान देना अच्छा नहीं हुआ। विषय की गहनता के अनुरूप उद्योग का प्रसार नहीं होने पाया। प्रयत्न दबा सा रह गया है। विरह के विस्तार में ही यदि इसी प्रकार के प्रयत्न का कुछ रूप चला दिया गया होता तो कार्य की इस अवस्था को भी बल मिल जाता। फिर भी चंपकलता अपनी सखी के पत्र को यथास्थान अवश्य ही पहुँचाएगी—इसका निश्चय ही प्रयत्न को सिद्ध कर देता है।

तीसरे अंक में चंद्रावली अपनी अनेक सखियों के साथ उद्यान विहार के लिए गई मिलती है। इस अंक में भी मात्राधिक्य वर्तमान है और विरहविदग्धा नायिका के लिए प्रकृति की अपार सुषमा उद्दीपन का काम करती है। वर्षा और झूले के प्रसंग से चंद्रावली का विरहोच्छ्वास जोर पकड़ता है। फिर तो वह साढ़े चार पृष्ठों का स्वागतभाषण तैयार कर लेती है। यदि रंगमंच का विचार कम कर दिया जाय और बुद्धिपक्ष की दुर्बलता का ध्यान छोड़ दिया जाय तो भावुकता के आग्रह का निर्वाह किया जा सकता है। प्रेम की भी मधुर व्यंजना का प्रसार स्वभावतः पाठक को ऊबने नहीं देगा। किसी विरहिणी की करुण स्थिति और उद्गार को सुनने में किसी को अरुचि दिखाने का अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रसारगामी काव्यत्व और दुर्बल नाटकत्व से हम प्राचीन काल ही से परिचित रहे हैं। एक ओर लेखक उद्दीपन भाव से आकुल तो है पर संविधानक की आकांक्षा का ज्ञान भी उसमें बना है और फलप्राप्ति हो इसके लिए वह आशा की व्यवस्था कर देता है "हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइबे को मेरो जिम्मा।

---

[1] अंकांते सूचितः पात्रैस्तदंकस्याविभागतः।
यत्रांकोऽवतरत्येषोऽकांवतार इति स्मृतः॥

यही काम सब में कठिन है और तुम दोउन में सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावें और एक लालजू सों मिलिबे को कहै।" इस प्रकार सखी-सेना माँग-विरोध अनुकूल बनाने की चतुर्मुखी योजना तैयार कर लेती है और कार्यसिद्धि की आशा होने लगती है।

चतुर्थ अंक में प्राप्त्याशा नियताप्ति में परिणत होती है। प्रेमी कृष्ण जोगिन के वेश में स्वयं चंद्रावली की बैठक में आते हैं। फिर तो चंद्रावली और उसकी सखी ललिता भी एकत्र हो जाती है। सारा वायुमंडल प्रसन्न एवं अनुकूल बन जाता है और नायिका को सगुन होने लगते हैं। उसमें भावोद्रेक होते ही जोगिन प्रकट हो जाती है। इस स्थिति को देखकर निश्चय हो जाता है कि प्रेमी प्रेमिका का मिलन हो जायगा। कुछ दूर तक गोप्यगोपन क्रिया यों ही चलती है पर विमर्श का न तो प्रसंग आने पाता और न कोई आशंका ही दिखाई पड़ती। अंत में चंद्रवली गाते गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली सी चमकती है और जोगिन श्रीकृष्ण बनकर गले लगाती है। यों तो इसके उपरांत भी इस फल-सिद्धि का विस्तार दिखाया गया है पर वह सब व्यर्थ है। उसकी कोई विशेष उपादेयता नहीं है।

इस प्रकार नाटिका का सारा कथानक विरह और मिलन की कहानी है।

पात्र

चंद्रावली को छोड़कर अन्य सब पात्र गौण हैं। सखी-वर्ग का अपना कोई भिन्न अस्तित्व ही नहीं है। वे सभी मुख्य साधन के रूप में प्रयुक्त हुई हैं,—न उनका अपना कोई इष्ट है और न पृथक् व्यक्तित्व ही। क्रिया-व्यापार की शृंखला भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं चली जिससे किसी का स्वरूप स्फुट हो सकता। सखियों के अतिरिक्त राधारानी ज्येष्ठा और श्रीकृष्ण धीरललित नायक हैं-केवल शास्त्रस्थिति-संपादन के लिए। संपूर्ण नाटिका में केवल एक पात्र है चंद्रावली। वह भी प्रेम के सिद्धांत और आदर्श की प्रतिमा है। उसका जीवन ऐकांतिक अनुराग

की एकनिष्ठ कहानी है। अपने प्रेम में मस्त, प्रेमी पर अखंड विश्वास किए अपनी साधना में दृढ़-एकरस, एकचित्त अपने प्रतीक्षा के मार्ग से जाती दिखाई पड़ती है। प्रेमी की निष्ठुरता पर जो उपालंभ मिलता है उसमें प्रेम का अनुभूतिमूलक उद्वेग अवश्य है पर वह भी आक्षेपयुक्त उतना नहीं जितना रसमय और मधुर। कामनाविहीन आत्मसमर्पण तो है ही उसके साथ प्रियहित-चिंतन चंद्रावली की प्रेम-पद्धति को और अधिक निर्मल बना देता है। वह स्वयं विरह की आनंद-मयी तीव्रता का अनुभव करती है साथ ही भगवान् से याचना करती है कि इस प्रकार की उद्वेगपूर्ण स्थिति में प्रिय कभी न पड़े और उसके कारण उसका जीवन उस प्रकार की उलझनों में न उलझे जिसमें वह स्वयं पड़ी है। मिलन के बाद तो फिर उसमें कोई अन्य लालसा ही नहीं रह जाती 'और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं' है।

रस

इस नाटिका में शृंगार रस की ही निष्पत्ति हुई है। वियोग के उपरांत प्रेमी प्रेमिका का संयोग हो जाता है। संयोग-वियोग दोनों पक्षों की पूर्ण अभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिला है। इतना अवश्य है कि अधिकांश भाग में वियोग-काल की ही विभिन्न अवस्थाओं का प्रसार हुआ है। प्रथम तीनों अंकों में वियोगजनित कामदशाओं का स्फुट रूप दिखाई पड़ता है। अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मृति–मरण की सभी दशाएँ, यथा स्थान सुंदर विस्तार में वर्णित मिलती हैं। इसमें एकांगिता का आक्षेप किया जा सकता है पर उसमें दोष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वियुक्त स्थिति से ही व्यक्ति और परिस्थिति–जन्य वैलक्षण्य का स्फुरण भली भाँति दिखाना संभव है। संयोग-काल का विवरण अनुमानगम्य होने से विशेष आकर्षक नहीं होता। इसीलिए रसिकजन जिस उत्साह से वियोग पक्ष का चित्रण करते हैं उसमे संयोग का नहीं। दूसरा कारण

यह भी है कि दुःख, करुणा इत्यादि के कथन से सात्त्विक द्रवता जितनी जल्दी उत्पन्न और प्रसारित होती है उतनी आनंद और सुख से नहीं। वियोग का संयोग कविजन इसी अभिप्राय से अधिक अपनाते हैं।

यहाँ चंद्रावली-कृष्ण आलंबन विभाव हैं। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत वर्षा, घन, बिजली, संध्या, मोर, पपीहा, चंद्रमा इत्यादि प्रकृति के नाना रूप और व्यापार आए हैं। अनुभावों का चित्रण तो अति सजीव हुआ है। स्थान स्थान पर अश्रु, स्वरभंग, स्तंभ, प्रलय इत्यादि सात्त्विक अनुभावों का रूप दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त, आकुल भाव से दौड़ना, केशों का खुल जाना इत्यादि क्रियाएँ कायिक अनुभाव तो सर्वत्र ही मिलते चलते हैं। संचारी भावों की विविधता संपूर्ण नाटिका में फैली दिखाई पड़ती है। उन्माद, दैन्य, मोह, निर्वेद, चिंता, स्मृति इत्यादि अनेक संचारी भावों की यथास्थान स्थापना ने रस को संघटित करने में विशेष सहायता दी है। इस प्रकार शृंगार रस की निष्पत्ति के सभी योगवाही उपयुक्त स्थलों पर जटित हो गए हैं।

प्रेम-तत्त्व

इस नाटिका में रति भाव का जैसा वर्णन हुआ है उससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार ने चंद्रावली के प्रेम के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है। एकनिष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जैसी विवृति चंद्रावली में दिखाई गई है वह परमतत्त्व और पारमात्मिक प्रेम की ओर संकेत करती है। उसकी ऐकांतिक तन्मयता और आत्मसमर्पण में आध्यात्मिक पूर्णता की ध्वनि है। 'ऐसा जान पड़ता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेंदुजी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिंब है।' डा० श्यामसुंदरदास के इस निष्कर्ष में औचित्य है क्योंकि अपने समर्पण में स्वयं भारतेंदु जी ने स्वीकार किया है 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार म प्रचलित है।' गोपाल की सांप्रदायिक भक्ति-पूजा लेखक के घराने में प्रतिष्ठित थी और स्वयं उनकी अनुरक्ति जो पूजा-भाव की ओर विशेष थी उस दृष्टि से चंद्रावली नाटिका के प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण हो जाता है

महावीरप्रसाद द्विवेदी

१. युगप्रवर्तक द्विवेदीजी
२. द्विवेदीजी की भाषा-शैली

युगप्रवर्तक द्विवेदीजी

स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के कृतित्व और साहित्यिक देन का गुणानुवाद निरंतर तब तक चलता रहेगा जब तक हिंदी भाषा एवं साहित्य की चर्चा चल सकेगी। अपने गंभीर व्यक्तित्व, चरित्र-बल और ऐकांतिक काव्य-सेवा से उन्होंने हिंदी-जगत् को नाना प्रकार से नव चेतना प्रदान की थी उसका मार्ग-प्रदर्शन किया और उसे इस योग्य बनाया कि वह भारतीय अन्य भाषाओं और साहित्यों के समकक्ष स्थान प्राप्त करने के योग्य हो सके। जीवन भर उनका यही प्रयास रहा है कि हिंदी भाषा दोष-दौर्बल्य से सर्वथा मुक्त होकर शक्तिमती और प्रसार-गामी बने तथा उसका साहित्य विविध अंग उपांगों से परिपुष्ट और अलंकृत होकर राष्ट्र के निर्माण में पूर्ण योग दे सके। यह स्वीकार करने में कोई भी प्रसन्नता का अनुभव करेगा कि अपने पुनीत जीवन में उन्होंने अपने अथक परिश्रम और अनवरत कर्मयोग का मंगलमय प्रतिफल भी देख लिया था। उस वृद्ध तपस्वी के लिए इस मर्त्यलोक में यही स्वर्ग-दर्शन हो गया।

साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदीजी के पदार्पण के पूर्व हिंदी की चतुर्मुखी प्रगति बड़े संतोषप्रद रूप में हो चुकी थी। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र अपने साथियों के साथ काव्य के प्रायः सभी अंगों की रचना का सूत्रपात कर चुके थे। कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध और आलोचना इत्यादि के अतिरिक्त अन्य विषयों पर रचनाएँ हो रही थीं। साथ ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन तीव्र गति से चल रहा था और काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ स्थापित ही नहीं हो चुकी थीं वरन् भाषा और साहित्य की गतिविधि के नियंत्रण एवं संवर्धन में योग

दे रही थीं। लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं थी। भाषा के विस्तार और व्यावहारिक प्रयोग का आंदोलन छिड़ चुका था। अनेक उत्साही तथा समर्थ लेखक और कार्यकर्ता हिंदी के समुद्धार में दत्तचित्त हो चुके थे। हिंदी में जनवाणी बनने की प्रबल आकांक्षा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रही थी। इतना होने पर भी सामान्य जनता और पठित समाज में इस विषय की दैन्यानुभूति हो रही थी कि मराठी, बँगला और गुजराती के तारतम्य में अभी हिंदी-साहित्य दुर्बल है। ऐसे समय में जब कि नव निर्माण के समस्त उपादान उपस्थित थे और सारी सेना में उत्साह और जागरण के लक्षण दिखाई दे रहे थे एक कर्मठ, कुशल, सत्यशील और वीर्यवान नेता की आवश्यकता थी जो अपनी क्रियाशक्ति द्वारा मार्ग प्रदर्शन का गुरुतर कार्य कर सकता।

आचार्य द्विवेदीजी इसी समय 'सरस्वती'-संपादक के रूप में, हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़कर आए, उस समय उनके संमुख अनेक दायित्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुए। अभी तक हिंदी-जगत् में उन विविध विचारों का पठन-पाठन सुलभ नहीं हो पाया था जिनके विषय में अन्य जाग्रत् और संपन्न भाषा-साहित्य नित्य तर्क-वितर्क कर रहे थे। चारों ओर नित्य नए आविष्कार और प्रयोग चल रहे थे, विज्ञान के क्षेत्र में अनेक आश्चर्यमयी विभूतियाँ सामने आ रही थीं। साथ ही विज्ञानेतर अन्य न जाने कितनी जानकारी की बातें लिखी-पढ़ी जा रही थीं। इन विविध ज्ञान-विज्ञान और व्यावहारिक विषयों का संपर्क हिंदी वालों के साथ स्थापित करना आवश्यक था, इस विचार से प्रेरित होकर कुशल अध्यापक की भाँति द्विवेदीजी अपने बाल हिंदी-साहित्य के लिए निरंतर अपनी 'सरस्वती' में नए-नए विषयों पर सरल भाषा में टिप्पणियाँ लिखा करते थे। आज जब हम उस काल में प्रकाशित उस पत्रिका की विषय-तालिका देखते हैं तब उन विषयों का महत्त्व ज्ञात होता है। उस समय द्विवेदीजी संसार के कोने-कोने से जानकारी की बातें ढूँढ़ खोज कर अपनी पत्रिका में प्रकाशित करते थे। स्वयं पढ़ते और लिखते तो थे ही अन्य अनेक मित्रों और उत्साही नवयुवकों से भी लिखने के लिए

आग्रह करते थे। बड़ी तत्परता के साथ शिथिल और दोषपूर्ण भाषा में लिखे उनके लेखों का संशोधन करते; सँवारते और तब उसे प्रकाशित करके लेखक का उत्साह बढ़ाते थे। साथ ही, पाठकों के ज्ञानवर्धन और सुरुचि को सजाने का भी काम करते थे। इस प्रकार निरंतर वे भाषा का प्रयोग और विषय-ज्ञान का प्रसार करके हिंदी-साहित्य के वर्तमान काल की नींव को सुस्थिर और शक्तिशाली बनाते रहे।

उनके संमुख दूसरा दायित्व भाषा-शोधन का था। हरिश्चंद्रयुग में निर्माण का कार्य इतने वेग से चलता था कि भाषा के परिष्कार और शुद्धता की ओर विशेष ध्यान न दिया जा सका था। उस काल की भाषा में व्याकरण-संबंधी च्युति और दोष प्रायः मिलते थे। इस क्षेत्र में की गई द्विवेदीजी की सेवा सदैव स्मरण की जायगी। अपने चारों ओर भाषा-विषयक अशुद्धता एवं अव्यवस्था देखकर संस्कृत के संस्कार में पले हुए इस आचार्य में क्षोभ उत्पन्न हुआ। फलतः उन्होंने कठोरतापूर्वक इसके लिए दत्तचित्त होकर रोकटोक आरंभ की। भाषा-शोधन के अभिप्राय से उन्होंने अपरिमित व्यक्तिगत पत्र, समालोचनाएँ और लेख लिखे। इस विषय में इनकी निर्भीकता और सद्भावमय दोष-दर्शन ने बड़ा उपकार किया। नवयुवक उत्साही लेखक सजग और सशंक होकर लिखने लगे और अनाचारपूर्वक भाषा का प्रयोग बंद हो गया। उस समय अपना साहित्यिक जीवन आरंभ करनेवाले लेखक-गण आज भी द्विवेदीजी की उस जागरूक तत्परता की स्तुति करते हैं।

खड़ी बोली की कविता का वह अरुणोदय-काल था जब आचार्य द्विवेदीजी ने उसके भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर लिया। छोटी-मोटी रचनाएँ प्रायः देखने में आती थीं, कथात्मक अथवा भावात्मक काव्यरचना का व्यापक स्वरूप अभी संमुख नहीं आ सका था। यों तो अन्य कृतिकार समय-समय पर निरंतर इसका प्रमाण सुंदरता से दे रहे थे कि खड़ी बोली में काव्य-सर्जना यदि हो तो मँज-मँजाकर बड़ा भव्य स्वरूप और संपन्नता उत्पन्न हो सकती है। द्विवेदीजी ने इस क्षेत्र में अथक उत्साह दिखाया, जहाँ कहीं भी उन्हें प्रतिभा और

अध्यवसाय दिखाई पड़ा उसका स्वागत और अभिनंदन करने लगे। दूसरों को कवि-रूप देने में उन्हें स्वयं साधनापूर्वक काव्य-रचना करनी पड़ती थी। इसमें उन्होंने हार कभी न मानी और निरंतर पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक विषयों को लेकर इतिवृत्तात्मक कविताएँ स्वयं लिखीं और अन्य युवकों को भी जगाया। प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप अनेक बाल-कवियों को उन्होंने काव्य-रचना की स्फूर्ति प्रदान की, मार्ग-प्रदर्शन किया और निरंतर उनकी साहित्यिक विकास-वृद्धि में गुरुवत् संरक्षण देते रहे। इस पद का उस कालमें विशेष महत्त्व था। द्विवेदीजी के इस रूप और कर्म का जोड़ मिलना कठिन है। उनकी कल्याण-बुद्धि से प्रेरित अध्यवसाय, तपस्या और प्रयोग के परिणाम-स्वरूप अनेक कुशल, प्रतिभाशाली एवं साधक कवि आगे आए। उस मंडली के प्रमुख कृतिकार लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति हैं। इन कवियों की काव्य-रचना शैली का वृद्धिक्रम ही स्वर्गीय द्विवेदीजी की सफलता का इतिहास है।

स्वयं द्विवेदी जी ने कर्मठ होकर इस ढंग की न जाने कितनी कविताएँ लिखीं। उस काल की उनकी सुंदर कृतियों का सुदर रूप 'कविता-कलाप', 'कुमारसंभव-सार' इत्यादि में दिखाई पड़ता है। इन रचनाओं में उनका वस्तु-संकलन और काव्योचित पदावली का प्रयोग स्थिर होता मिलता है। अवश्य ही इस प्रयोग में भाषा-शैली की कर्कशता जितनी अधिक है उतनी कोमल-कांत पदावली का विन्यास नहीं। परंतु काल-विचार से इस प्रकार का आग्रह समीक्षक नहीं कर सकता। खड़ी बोली-काव्य का झुकाव संस्कृत तत्समता की ओर स्थिर कर द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवियों ने हिंदी-कविता के स्वरूप को सुदृढ़ भूमि पर ला खड़ा किया है। पदावली का संस्कार तो हुआ ही, साथ ही संस्कृत-काव्य में व्यवहृत शास्त्र और संपूर्ण परंपरा-विभूति का आनयन सरलता से हो गया। पौराणिक इतिवृत्तों का ज्ञान कराके इस युग की कविता ने प्रच्छन्न ढंग से राष्ट्र को अपनी प्राचीन गौरव-गाथा कह सुनाई और इस प्रकार उसमें देश-प्रेम और नव जागरण का अभिनंदन [illegible]

रिक्त नवीन हिंदी छंदों और संस्कृत के वर्णवृत्तों की व्यावहारिक सिद्धि स्पष्ट हो गई। एक ओर 'रामचरित-चिंतामणि' में तो दूसरी ओर 'प्रियप्रवास' में इसका प्रयोग अमर हो गया है। हरिगीतिका और गीतिका छंद की लय में तत्कालीन नवोद्यत बाल-कवियों का स्वर मिल गया। सभी इस प्रकार के छंदों का प्रयोग करने लगे। काव्योचित भाषा का संस्कार करके और नवीन मात्रिक एवं वर्णिक वृत्तों का मार्ग निर्दिष्ट कर द्विवेदीजी ने नवयुग का समारंभ किया था।

गद्य-रचना के क्षेत्र में भी इस आचार्य ने बहुत कुछ सिखाया। अन्य साहित्यों से श्रेष्ठ और उपयोगी ग्रंथों का हिंदी-रूपांतर किया, संस्कृत के अनेक काव्यों का हिंदी में भावानुवाद किया। हिंदी के कवियों तथा लेखकों की आलोचना के साथ संस्कृत के कृतिकारों पर भी समीक्षा लिखी। भावात्मक और व्यावहारिक विषयों पर छोटे-छोटे चलते निबंध प्रस्तुत किए, इन सब कृतियों का एक मात्र लक्ष्य यही दिखाई पड़ता था कि हिंदी पाठकों की मंडली अधिक से अधिक ज्ञातव्य विषयों का स्पर्श कर ले, यह बात और अधिक स्पष्ट होती है उनकी लिखी हजारों उन टिप्पणियों से जो मूलतः समय-समय पर सरस्वती में प्रकाशित हुईं और पीछे से जिनका संग्रह 'विचार-विमर्ष' नाम से भारती-भंडार से प्रकाशित हुआ है। विभिन्न विषयों पर कुछ न कुछ निरंतर लिखते रहने से द्विवेदीजी के अध्ययन-ज्ञान का आभास तो मिलता ही है साथ ही उनकी भाषा-शैली के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का भी बोध हो जाता है।

जिसको विभिन्न विषयों पर नित्य लिखना पड़ेगा, और अपनी विद्वत्ता के प्रकाशन के लिए जिसे अवसर नहीं मिलेगा अथवा इस विषय की लालसा जिसमें न रहेगी, प्रत्येक स्तर के विद्यार्थियों तथा पाठकों तक अपनी रचना को पहुँचाना ही जिसका कर्तव्य होगा और जिसमें साहित्य के साथ-साथ भाषा के प्रसार का भी विचार होगा उसकी शैली में कहीं वक्रता और वेग मिलेगा, कहीं मानसिक स्थिति-भेद से उग्रता और व्यंग्य की कटुता दिखाई पड़ेगी। विषय-निर्धारण और तर्क-वितर्क का संयोग तो सर्वत्र ही प्राप्त रहेगा। द्विवेदीजी की भाषा-शैली के विविध

रूप हैं कहीं व्यावहारिक चलतापन है, कहीं व्यंग्य और तीव्र आक्षेप के कारण बात कहने में वैदग्ध्य के साथ विनोदात्मक ध्वनि निकलती दिखाई पड़ती है और कहीं विचार-प्रधान विषय-विवेचन का क्षेत्र मिलने पर गांभीर्य एवं तत्समता का बाहुल्य आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय-वैभिन्न्य के अनुरूप भाषा की भंगिमा में यथायोग्य परिवर्तन उपस्थित कर सकना द्विवेदीजी की अपनी विशेषता रही है। इस विषय में यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय स्वर्गीय प्रेमचंद्र, रामचंद्र शुक्ल और प्रसादजी का उदय हो रहा था और अभी तक हिंदी-जगत् की शोभा का परिष्कार एवं विस्तार नहीं हो सका था। ऐसे अवसर पर भाषा-विषयक विविधरूपता नितांत वांछनीय थी। अनेक प्रकार से प्रभाव उत्पन्न करने के लिए बात कहने के रूप-रंग में कैसा व्यावहारिक उतार-चढ़ाव लाना चाहिए इसका आदर्श उपस्थित कर आचार्य द्विवेदीजी ने भावी साहित्यिकों का मार्ग निर्दिष्ट किया है और इसलिए भी उन्हें युग-प्रवर्तक मानना होगा।

श्यामसुंदरदास

१. जीवनवृत्त
२. चरित्र और प्रकृति
३. साहित्यिक कृति

जीवन-वृत्त

किसी व्यक्ति के कर्तृत्व की महत्ता केवल इस बात से नहीं होती कि जीवन में उसने कैसे-कैसे कार्य किए, उनमें उसे कितनी सफलता मिली अथवा कितने उत्साह और सद्भाव से उसने अपने दायित्व का निर्वाह किया, वरन् यह विचार करना आवश्यक होना चाहिए कि कैसे समय में, किन परिस्थितियों में और किन साधनों से उसने उद्योग किया। इस आधार पर स्वर्गीय साहित्यवाचस्पति रायबहादुर डाक्टर श्यामसुंदरदास के यदि उन कार्यों का विचार किया जाय, जिनके कारण उनके जीवन का महात्म्य है, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि बिना सच्चे उत्साह, अखंड विश्वास और विशिष्ट व्यक्तित्व के ऐसे दायित्व-पूर्ण कार्य-कलाप इतनी सफलता से संपादित नहीं किए जा सकते। अपने जीवन के पचास वर्षों में उन्होंने साहित्य और भाषा के विविध अवयवों का ऐसा संवर्धन किया कि आज उन्हें जिस गति और शक्ति की आवश्यकता पड़ रही है उसे वे योग्यतापूर्वक अंगीकार करने में सर्वथा सफल हैं। ऐसा करने में श्यामसुंदरदासजी को अनेक विषम स्थितियों का सामना करना पड़ा था।

बीस वर्ष की अवस्था में जिस समय बाबू साहब ने हिंदी साहित्य की सेवा का दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय हिंदी भाषा का कोई अपना गौरव नहीं था। "इस समय हिंदी की बड़ी बुरी अवस्था थी;

वह जीवित थी यही बड़ी बात थी। हिंदी का नाम लेना भी इस समय पाप समझा जाता था। कचहरियों में इसकी बिल्कुल पूछ नहीं थी। पढ़ाई में केवल मिडिल क्लास तक इसको स्थान मिला था। पढ़नेवाले विद्यार्थियों में अधिक संख्या उर्दू लेती थी, परीक्षार्थियों में भी उर्दूवालों की अधिक संख्या रहती थी।......हिंदी बोलनेवाला तो गँवार कहा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था...”। ऐसे प्रतिकूल वातावरण में बाबू साहब ने हिंदी के समुद्धार का प्रश्न उठाया था। उन्हें अपनी अंतःप्रेरणा पर सदैव विश्वास बना रहता था। उसी के बल पर ऐसे विषम काल में भी उन्होंने भाषा-संबंधी आंदोलन व्यापक रूप से आरंभ किया। उन्हें अपने अध्यवसाय, सच्चाई और कार्य-कुशलता पर विश्वास बना रहा। समय-समय पर सहयोगियों और सुअवसरों का योग मिलता गया और वे सफलता की ओर वेग से बढ़ते चले गए।

उनके सामाजिक और साहित्यिक जीवन का आरंभ उस समय से समझना चाहिए जब १६ जुलाई सन् १८९३ में नागरी-प्रचारणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा को जन्म देकर स्वर्गीय बाबू साहब और उनके सहायकों ने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्कर्ष और अभ्युत्थान में जो योग दिया है, वह इतिहास में सदैव अमर एवं उद्योग तथा अध्यवसाय का ज्वलंत उदाहरण बना रहेगा। हिंदी-साहित्य-संमेलन जैसी संस्था और 'सरस्वती' जैसी पत्रिका का सूत्रपात भी इसी सभा ने अथवा श्यामसुंदरदासजी ने ही किया था जो अपने-अपने ढंग से पल्लवित, पुष्पित और फलित होकर हिंदी की बहुमुखी उन्नति में निरंतर योग देती आई हैं।

नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना से लेकर सन् १९०३ तक दस वर्षों में ही बाबू साहब ने हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रसार के लिए जो कुछ किया वह इतना भव्य और उत्साहवर्द्धक था कि स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने थोड़े में उनकी प्रशंसा इस प्रकार की थी—“जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिंदी में अनुराग प्रकट

किया, जिनके उत्साह और अश्रांत श्रम से नागरी-प्रचारणी सभा की इतनी उन्नति हुई, हिंदी की दशा सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के संपादन कार्य का बड़ी योग्यता से निर्वाह किया उन विद्वान् बाबू श्यामसुंदरदास के चित्र को इस वर्ष के आदि में प्रकाशित करके 'सरस्वती' अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।" उस चित्र के नीचे छपा था—"मातृभाषा के प्रचारक, बिमल बी० ए० पास। सौम्य शीलनिधान, बाबू श्यामसुंदरदास"।

इन्हीं दस वर्षों के भीतर स्वर्गीय डाक्टर दास ने उन महत् कार्यों का भी सूत्रपात किया जिनके कारण हिंदी-प्रचार का कार्य सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ और यथार्थतः साहित्य का अंकुरण हो सका। न्यायालयों में हिंदी-प्रचार (सन् १६००), वैज्ञानिक शब्दकोष का अधिक निर्माण, हिंदी के लेख तथा लिपि-प्रणाली की व्यवस्था पर विचार (सन् १८६८), हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के लिए धन एकत्र करना (१८६६), आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना, रामचरितमानस की प्रामाणिक टीका का प्रकाशन (सन् १६०२), सभा-भवन का निर्माण (सन् १६०२) इत्यादि सभी कार्य प्रायः साथ ही साथ आरंभ हुए। उक्त कार्यों के संपूर्ण संवर्धन का श्रेय बाबू साहब को प्राप्त था। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में जो नाना प्रकार की कौटुंबिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक अड़चनें मार्ग में आईं उनका जैसा सामना उन्होंने किया उसमें उनकी कर्मनिष्ठा, उत्साह, निर्भीकता, विश्वास-बल और अकथ परिश्रम का प्रमाण प्राप्त है। इन संघटन और संपादन-कार्यों के अतिरिक्त इसी काल के भीतर उन्होंने रचना का श्रीगणेश किया और बीसों लेख लिखे जो 'सरस्वती' के आरंम्भिक वर्षों में प्रकाशित हुए थे।

इसके अनंतर बाबू साहब के कृतित्व, एकरसता और अपार क्षमता का पूरा पूरा परिचय देनेवाला अभूतपूर्व ग्रंथ 'शब्दसागर' है। बीसों वर्ष (सन् १६०७ से लेकर १९२६) तक एकनिष्ठ होकर इसके लिए

उन्हें तपस्या करनी पड़ी थी। वह समय उनकी साहित्यिक साधना का था। विविध योग्यता और रुचि-अरुचि के अनेक विद्वानों को संघटित करके उनसे काम लेते रहना, स्थान-स्थान पर दौड़कर धन का संचय करते चलना, ग्रंथ के संपादन और प्रकाशन में लगे रहना—दैवी प्रेरणा और अद्‌भुत धैर्य का काम था। इस ग्रंथ में लाखों के करीब शब्दों का परिचय है और इसके प्रकाशन में लाखों के करीब रुपये भी व्यय हुए हैं। इसे बाबू साहब के जीवन का सार-भूत स्तंभ कहना चाहिए। इसे प्रकाशित देखकर अनेकानेक देशी और विदेशी पंडितों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। केवल एक यही ग्रंथ उनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए यथेष्ट है। ग्रंथ की समाप्ति पर उनके अभिनंदन के रूप में उन्हें जो कोशोत्सव-स्मारक संग्रह समर्पित किया गया है उसके अग्रलिखित शब्दों में उनकी कृति का उचित ही बखान है—"अपने जन्मदाता श्रीयुत बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० को—जिनके परिश्रम, उद्योग और बुद्धिबल तथा जिनके संपादन में हिंदी भाषा का सबसे बड़ा कोश हिंदी-शब्दसागर प्रस्तुत हुआ, उनके संमानार्थ तथा कीर्तिरक्षार्थ काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा निवेदित"। इसी ग्रंथ की भूमिका के प्रसंग में बाबू साहब ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' सन् १९३० में लिखा था। इस ग्रंथ में किसी काल के कवियों की चुनी कविताएँ संगृहीत नहीं हैं और न व्यक्तिगत रूप में उनके प्रति कोई मत ही प्रगट किया गया वरन् भिन्न-भिन्न कालों की सामूहिक प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन ही लक्ष्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त इसी समय पचासों अन्य अनेक ग्रंथों का संपादन और उनके सुचारु रूप से छपाने की व्यवस्था भी वे करते रहे।

बाबू साहब के साहित्यिक जीवन का आभोग-युग सन् १९२१ से आरंभ हुआ जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आए। इसे आभोग-युग इसलिए कहना चाहिए कि इसके पूर्व का काल अनवरत श्रम, संघर्ष, प्रयत्न, चिंता और तपस्या में बीता था और अब उन्हें

अपनी साधना एवं कृति को सजाने का अवसर मिला। यों तो दायित्वपूर्ण संघटन और उद्योग से अभी भी पीछा नहीं छूटा था, परंतु गति में अब उतना आवेग नहीं रह गया था। जब से उन्होंने विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का सूत्र अपने हाथ में लिया उस समय से उनका शारीरिक श्रम कुछ कम हो गया था और उनके कौटुंबिक जीवन की वस्तुस्थिति भी अपेक्षाकृत कुछ अनुकूल हो गई थी। अतएव वे कुछ शांति का अनुभव करने लगे थे। इस समय शारीरिक गति में अवश्य कुछ स्थिरता आई पर अभी भी काम और दायित्व कम नहीं था।

हिंदू विश्वविद्यालय का हिंदी-विभाग अपने ढंग का सर्वप्रथम विभाग था। इसलिए उसके संघटन और संचालन की व्यवस्था में विशिष्ट क्षमता की अपेक्षा थी। बाबू साहब ने अपने अनुभव के बल और सुबुद्धि से इस अपेक्षा की पूर्ति बड़ी तत्परता से की और अपने कार्यकाल के अंत तक बड़ी कुशलता एवं सफलता से अध्यक्ष-पद का निर्वाह किया था। इस क्षेत्र में भी आकर उन्हें नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ा। ऊँची से ऊँची कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन की विधि-प्रणाली का कोई रूप अभी तक स्थिर नहीं हुआ था, नए अध्यापकों की शिक्षण-पद्धति में गांभीर्य-युक्त एकस्वरता उत्पन्न करना आवश्यक था। नव-नव पाठ्यग्रंथों का वर्गीकरण ही नहीं वरन् उनकी रचना करनी और करानी थी। पठन-पाठन के साथ-साथ परीक्षा की योग्यता का स्तर सुनिश्चित करना अनिवार्य हो उठा। इस क्षेत्र में आकर भी उन्हें नव-निर्माण का ही दायित्व अँगेजना पड़ा। फिर भी जिस सच्चाई, संलग्नता, योग्यता और प्रेम के साथ उन्होंने इन लक्ष्यों की प्राप्ति की वह आदर्श हिंदी के वर्तमान कर्णधारों के लिए अनुकरण का विषय है।

इस कार्यकाल में आवश्यकतानुसार उन्होंने कई उपादेय ग्रंथों का निर्माण किया, जैसे—भाषाविज्ञान, रूपकरहस्य (१६३१) साहित्यालोचन (१६२२)। ये ग्रंथ अवश्य ही ऐसे विषयों पर हैं जो ऊँची

कक्षाओं के विद्यार्थियों के पठन-पाठन के लिए नितांत आवश्यक थे। इन पर पाश्चात्य साहित्यों में तो प्रभूत रचनाएँ प्राप्त थीं परंतु हिंदी भाषा में इस समय तक कुछ नहीं था। इसलिए विचारशील आचार्य ने अपने दायित्व का अनुभव किया और इस न्यूनता के उच्छेदन में जुट गए। उक्त ग्रंथों के साथ-साथ उनकी अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहीं, जैसे—हिंदी-भाषा का विकास, गद्य-कुसुमावली, भारतेंदु हरिश्चंद्र (सन् १६२७), गोस्वामी तुलसीदास (सन् १६३१)। इनके अतिरिक्त इसी समय में इन्होंने अनेक अन्य ग्रंथों का भी संग्रह और संपादन किया और बहुत से लेख भी लिखे जो प्रायः विद्यार्थियों के लिए उपयोगी थे।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पचास वर्षों तक श्यामसुंदरदासजी एकरस और एकचित्त होकर हिंदी-साहित्य का निर्माण एवं पोषण करते रहे। इतना ही नहीं, न जाने कितनों को उन्होंने साहित्यिक बना दिया, न जाने कितनों को लेखक और अध्यापक बनाया। उन्हें निरंतर वर्तमान का सर्जन और भविष्य का स्पष्टीकरण करते बीता। हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का संघटन करके अथवा काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की सृष्टि और संवर्द्धन करके उन्होंने अपने को ही नहीं वरन् संपूर्ण जगत को अमरत्व प्रदान किया है। हिंदी-प्रसार और साहित्य के गत पचास वर्ष उनके कृतित्व के जीवित इतिहास हैं। महाकवि मैथिलीशरणजी के शब्दों में नितांत यथार्थ ही है :—

"हिंदी के हुए जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्यामसुंदरदास॥"

चरित्र और प्रकृति

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके जीवन-वृत्त से कहीं अधिक आकर्षण उनके व्यक्तिगत वृत्त में दिखाई पड़ता है। उनके स्वभाव और प्रकृति में कुछ ऐसा निरालापन अवश्य मिलता है जिसके कारण उनका व्यक्तित्व साधारण स्तर से कहीं अधिक ऊपर उठा है। इस स्वभाव-प्रकृति का भी विकास होता चलता है और जीवन की धारा में जो नाना प्रकार की स्थितियों और वातावरण का निरंतर संघर्ष चला करता है, उसी के बीच से चलकर उसका रूप स्थिर होता है। इसीलिए इसका उस पर और उसका इस पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य के चरित्र-प्रकृति और उसके जीवन की विभिन्न दशाओं में एक अटूट योग बना रहता है और दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित हो जाता है। स्वर्गीय श्यामसुंदरदासजी का जीवन आद्यंत संघर्ष और संघटन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना रहा; साथ ही उन्होंने अपने क्षेत्र में बड़े ही महत्त्व-पूर्ण कार्यों का संपादन किया। इससे उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशेषताओं की आलोचना आवश्यक है।

बाबू साहब का संपूर्ण जीवन सुंदर और महत्त्वपूर्ण कार्यों में समाप्त हुआ है। उनकी अभिरुचि सदैव ऐसे विषयों की ओर रही है जो यश और कीर्ति के कारण थे। उनकी संपूर्ण विचारधारा ऊर्ध्वगामी थी। बाधाओं से लड़ने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उनका सारा जीवन संघर्ष करते बीता। यह संघर्ष बहुमुखी था। पारिवारिक वातावरण कलह और अशांतिपूर्ण था; समाज की कठोरताओं और

रूढ़ि-प्रेम के कारण भी समय-समय पर उन्हें चिंता का सामना करना पड़ा था; साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्हें विभिन्न अवसरों और प्रसंगों पर अनेक व्यक्तियों के आक्षेपों एवं विरोधों का आघात सहना पड़ा था। इसलिए निरंतर विरोध और चिंताग्रस्त स्थितियों में पड़ने के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता और रूक्षता उत्पन्न हो गई थी। समयानुसार उसी का अनेक रूप में प्रदर्शन दिखाई पड़ता है। इसी कर्कशता के परिणाम-रूप उनमें निर्भीकता और स्पष्टवादिता का अक्खड़ रूप भी उत्पन्न हो गया था। किसी-किसी अवसर पर उसका अनुकूल और कहीं-कहीं प्रतिकूल परिणाम उन्हें मिलता रहता था। यों तो स्पष्टवादी और निर्भीक होना चरित्र का गुण है पर उन्हीं गुणों ने बाबू साहब को प्रायः अप्रियभाषी भी बना दिया था और उन्हें सभी संस्थाओं में सदैव किसी न किसी विरोधी दल का सामना करना पड़ा था।

उनके चरित्र की प्रमुख विभूतियाँ तीन थीं—दृढ़ता, आत्मविश्वास और स्वावलंबन। इनके विकास का भी व्यक्तिगत कारण था। परिवार में ये सबसे बड़े भाई थे, मित्र-मंडली में भी अपनी कर्मनिष्ठा के कारण नेता बने रहे और साहित्य के क्षेत्र में तो आजन्म नेतृत्व ही करते रहे। सर्वत्र उन्हें अपने विचारों को स्थिर करके विश्वास के साथ काम करना पड़ता था, इसलिए अपनी ही शक्ति पर विशेष बल देने का अभ्यास हो गया था। आत्मविश्वास और स्वावलंबन के अनुसारी परिणाम-रूप में जो उन्हें निरंतर सफलता मिलती गई उसके कारण उनमें कर्तृत्व-ज्ञान और गर्वानुभूति की मात्रा भी प्रबल होती गई। यह आत्मानुभूति उनके व्यक्तित्व की प्राण-चेतना थी; इसी कारण उनमें अपूर्व तेजस्विता आ गई थी और उनके प्रतिद्वंद्वी भी उनसे सशंक और भयभीत रहा करते थे। बहुतों को तो विरोध करने का भी साहस नहीं होता था। व्यक्तित्व का ऐसा भव्य स्वरूप पुण्य और साधना का ही प्रसाद मानना चाहिए।

पर इस विभूति ने उनमें एक दोष भी उत्पन्न कर दिया था; वे किसी की अध्यक्षता में कार्य नहीं कर सकते थे। इसी दोष के कारण

किसी एक नौकरी पर वे अधिक काल तक टिक नहीं सके। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है। कहीं से किसी ने उन्हें हटाया नहीं; वे स्वयं या तो स्थिति प्रतिकूल होने के कारण अथवा संमान का अभाव देखकर पृथक् होते गए। स्थिर होकर अंत तक वे विश्वविद्यालय में ही रहे। इसका स्पष्ट कारण यही था कि वहाँ केवल उन्हीं का नेतृत्व, संघटन और शासन था। अपने शासन-क्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप वे सहन नहीं कर पाते थे और अपने उन सहायकों की रक्षा भी करते थे जो उनका नियंत्रण और शासन मानते। यों तो संरक्षकता की वृत्ति उनकी बहुत ही व्यापक और उदार रही है पर विशेषतः उन लोगों पर उनकी कृपादृष्टि बहुत अनुकूल रहती थी जिनमें साहित्यिक अभिरुचि तथा प्रतिभा का आभास दिखाई देता था। ऐसे आदमी को पहचान लेने की अद्भुत क्षमता उनमें अंत तक बनी रही। रुचि-अरुचि के विचार से वे ढुलमुल नीति के थे। आज किसी पर यदि विशेष प्रसन्न हैं तो कल तनिक में घोर रुष्ट हो जाते थे। किसी विषय में आज यदि एक विचार है तो कल और कुछ। साधारणतः विचार करने से यह प्रशसनीय नीति नहीं कही जा सकती पर बाबू साहब के साथ यह गुण की बात बन गई थी। यों तो अपनी बात पर अड़ जाने की आदत उनमें थी पर विशेषकर वे जिद तभी पकड़ते थे जब उन्हें अपनी संमान-रक्षा में कुछ आशंका हो उठती थी। तर्क और बुद्धि के बल पर जहाँ तक वे अपनी बात पर अड़ सकते थे, अड़े रहते थे पर यदि विरोधी पक्ष के तर्क से वे परास्त हो जाते थे तो सुधार स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करते थे। दुराग्रह का रोग उनमें नहीं था।

एक लक्ष्य को लेकर किस प्रकार एकरस होकर अपने सारे जीवन को उसकी सिद्धि में अर्पित कर देना चाहिए इस बात का सच्चा उदाहरण बाबू साहब का जीवन है। हिंदी के समुद्धार का जो बीड़ा उन्होंने स्वीकार कर लिया था उसके दायित्व का निर्वाह प्राण रहते तक उन्होंने किया। मृत्यु के चार घंटे पहले तक उन्हें अपने निबंधों के संग्रह के प्रकाशन की चिंता बनी रही। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा,

हिंदी-पुस्तकों की खोज और शब्दसागर उनके मनोयोग के सुंदरतम प्रमाण हैं। विविध प्रकार के प्रलोभनों और आकर्षणों के रहने पर भी सभा को छोड़कर उन्होंने न तो किसी अन्य संस्था का कार्यभार कभी स्वीकार किया और न किसी अन्य लक्ष्य को ही अपनाया। जितना भी शारीरिक और बौद्धिक बलबूता उनमें था उसे उन्होंने सभा के द्वारा ही प्रकट किया। एक आदमी के कर्तृत्व-स्वरूप एक संस्था इतने प्रसार-गामी कार्य-व्यापार का संपादन कर सकती है यही आश्चर्य का विषय है। इस विषय में बाबू साहब के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। धैर्य, अध्यवसाय, कष्टसहिष्णुता, सूझ, तत्पर बुद्धि, उत्साह और अथक श्रम इत्यादि अनेक गुण उनमें थे और इनके प्रयोग का क्रीड़ाक्षेत्र था साहित्य-संसार। उनकी यह प्रकृति थी कि एक बात निश्चित हो जाने पर उसके पीछे पड़ जाते थे; जब तक उसे सिद्ध नहीं कर लेते थे वे साँस नहीं लेते थे। जो उनके वेग के साथ दौड़ पड़ते थे वे उनको भाते थे और जो ढीलढाल करने लगते थे उनके विरोध और अरुचि के विषय बन जाते थे।

बहुमुखी संघर्षों के घात-प्रतिघात में पड़े रहने के कारण उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में एक प्रकार का चौकन्नापन पैदा हो गया था। इसलिए वह किसी का विश्वास तब तक नहीं करते थे जब तक कि उसके लिए अनुकूल प्रमाण नहीं मिल जाता था। तब तक उसे अंतरंग भी नहीं बनाते थे और न अपने मतव्य ही उसके संमुख प्रकट करते थे। नेता की भाँति भिन्न-भिन्न दशाओं में दूसरों को सहायता देते और दूसरों से काम लेते रहे। नियंत्रण और संघटन करना, अपने संरक्षण में पड़े हुए साहित्यिकों और विद्यार्थियों को काम देना और पूरा कराना उनका मुख्य व्यापार था। अतएव अन्यकृत उपकारों की व्याप्ति के विषय में उन्हें प्रायः भ्रांति हो जाया करती थी और वे अन्यकृत उपकारों की उपेक्षा कर जाया करते थे। कभी-कभी उनके प्रिय लोग भी इस दोष के कारण दुखी हो बैठते थे। निरंतर नायकत्व का आभोग करते रहने से अपने साथवालों को नियम इत्यादि

के अनुसार चलाते रहने से उनमें निर्दिष्ट समय में, निश्चित नियमानुसार, मर्यादा-पूर्ण ढंग से काम करने और कराने का प्रेम उत्पन्न हो गया था। इसीलिए उनमें अनुशासन-प्रेम और मर्यादा का विचार विशेष रूप से बढ़ा था। स्पष्टवादिता के साथ मिलकर यही अनुशासन-प्रियता उनको भयप्रद बनाए रहती थी, उनकी अध्यक्षता में पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थी और उनके संरक्षण में कार्य करनेवाले उनके सहायक उनसे सशंक एवं सजग रहा करते थे। चरित्र की ये सभी विशेषताएँ प्रायः बुद्धि-प्रधानता की सूचक हैं। बाबू साहब के संपूर्ण जीवन की यदि विधिवत् मीमांसा की जाय तो इतना अवश्य स्पष्ट होगा कि उनमें जितनी बुद्धि की प्रबलता थी उतनी भावुकता-परक सहृदयता की नहीं। थोड़े में कहा जा सकता है कि उनका जीवन ऊर्ध्वगामी बुद्धि का वैभवपूर्ण प्रदर्शन था।

डाक्टर श्यामसुंदरदास का व्यक्तित्व कृतित्व के कारण आदरणीय, अनुभव के कारण गांभीर्यपूर्ण और साहित्यिक साधना के कारण भव्य था। उनकी बातचीत में सफाई, रहन-सहन में सफाई, जीवन और चरित्र में सफाई—सभी ओर से शुद्धता तथा सुस्पष्टता का आभास मिलता था। हिंदी-साहित्य के सर्जन और संवर्धन करनेवालों की श्रेणी में बाबू साहब का व्यक्तित्व बेजोड़ था।

साहित्यिक-कृति

बाबू साहब की साहित्यिक-कृति का भी एक इतिहास है। उनकी साहित्यिक कृतियों को ६ विभागों में बाँटा जा सकता है—

क्रमशः (१) मौलिक रचनाएँ, (२) संपादित ग्रंथ, (३) संकलित ग्रंथ, (४) पाठ्य पुस्तकें, (५) लेख, (६) वक्तृताएँ। इनकी सूची इस प्रकार है। कोष्ठों में दी हुई संख्या उन ग्रंथों के प्रकाशित होने की तिथि है।

मौलिक रचनाएँ :—

1—Nagari Character (1896).

2-7—Annual Report on the Search of Hindi Manuscripts for 1900 (1903), 1901 (1904), 1902 (1906), 1903, (1905); 1904, (1907), 1905 (1908).

8—First Triennial Report on the Search of Hindi Manuscripts for 1906—8 (1912).

९—हिंदी-कोविद रत्नमाला, भाग १ और २ (१९०९,१९१४)।

१०—साहित्यालोचन (१९२२, १९३७, १९४१, १९४३)।

११—भाषाविज्ञान (१९२३, १९३८, १९४५)।

१२—हिंदी-भाषा का विकास (१९२४)।

१३—हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (१९२३)।

१४—गद्यकुसुमावली (१९२५)।

१५—भारतेंदु हरिश्चंद्र (१९२७)।

१६—हिंदी भाषा और साहित्य (१९३०, १९३७, १९४४)।

१७—गोस्वामी तुलसीदास (१९३१) एकेडमी।

१८—रूपक रहस्य (१९३१)।

१९—भाषा-रहस्य, भाग १ (१९३५)।

२०—हिंदी के निर्माता, भाग १ और २ (१९४०-४१)।

२१—मेरी आत्मकहानी (१९४१)।

२२—गोस्वामी तुलसीदास (१९४०, इ० प्रेस)।

(२) संपादित ग्रंथ :—

१—चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (१९०१)

२—छत्रप्रकाश (१९०३)।

३—रामचरितमानस (१९०४, १९१६, १९३९)

४—पृथ्वीराजरासो (१९०४-१२)।

५—हिंदी वैज्ञानिक कोश (१९०६)।

६—वनिता-विनोद (१९०६)।

७—इंद्रावती भाग १ (१९०६)।

८—हम्मीर रासो (१९०८)।

९—शकुंतला नाटक (१९०८)।

१०—प्रथम हिंदी साहित्य-संमेलन की लेखावली (१९११)।

११—बाल विनोद (१९१३)।

१२—हिंदी शब्दसागर, खंड १-४ (१९१६—२६)।

१३—मेघदूत (१९२०)।

१४—दीनदयालगिरि ग्रंथावली (१९२१)।

१५—परमाल रासो (१९२१)।

१६—अशोक की धर्मलिपियाँ (१९२३)।

१७—रानी केतकी की कहानी (१९२५)।

१८—भारतेंदु-नाटकावली (१९२७)।

१९—कबीर-ग्रंथावली (१९२८)।

२०—राधाकृष्ण-ग्रंथावली (१९३०)।

२१—सतसई-सप्तक (१९३३)।

२२—द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ (१९३३)

२३—रत्नाकर (१९३३)।

२४—बाल शब्दसागर (१९३५)।

२५—त्रिधारा (१९४५)।

२६—नागरीप्रचारिणी पत्रिका १–१८ भाग।
२७—मनोरंजन पुस्तकमाला १–५० संख्या।
२८—सरस्वती (१६००, १६०१, १६०२)।

(३) संकलित ग्रंथ—

१—मानस-सूक्तावली (१६२०)।
२—संक्षिप्त रामायण (१६२०)।
३—हिंदी निबंधमाला भाग १–२, (१६२२)।
४—संक्षिप्त पद्मावत (१६२७)।
५—हिंदी निबंधरत्नावली भाग १, (१६४१)।

(४) पाठ्य पुस्तकें (संग्रह)

१—भाषा सार-संग्रह भा० १, (१६०२)।
२—भाषा पत्रबोध (१६०२)।
३—प्राचीन लेखमणिमाला (१६०३)।
४—आलोक-चित्रण (१६०२)।
५—हिंदी पत्र-लेखन (१६०४)।
६—हिंदी प्राइमर (१६०५)।
७—हिंदी की पहली पुस्तक (१६०५)।
८—हिंदी ग्रामर (१६०६)।
६—गवर्नमेंट आव इंडिया (१६०८)।
१०—हिंदी संग्रह (१६०८)
११—बालक विनोद (१६०८)।
१२—सरल संग्रह (१६१६)।
१३—नूतन संग्रह (१६१६)।
१४—अनुलेख माला (१६१६)।
१५—नई हिंदी रीडर, भाग ६, ७ (१६२३)
१६—हिंदी संग्रह, भाग १, २ (१६२५)।
१७—हिंदी कुसुम-संग्रह १, २ (१६२५)।

१८—हिंदी कुसुमावली (१६२७)।

१६—Hindi Prose Selection (१६२७)।

२०—साहित्य-सुमन भा० १-४ (१६२८)।

२१—गद्य-रत्नावली (१६३१)।

२२—साहित्य-प्रदीप (१६३२)।

२३—हिंदी गद्य-कुसुमावली भाग १, २, (१६३६, १६४५)।

२४—हिंदी प्रवेशिका-पद्यावली (१६३६, १६४२)।

२५—हिंदी प्रवेशिका-गद्यावली (१६३६, १६४२)।

२६—हिंदी गद्य-संग्रह (१६४५)।

२७—साहित्यिक लेख (१६४५)।

(५) लेख एवं निबंध—

१—संतोष (१८६४)।

२—भारतवर्षीय आर्य भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर संबंध ... (१८६४)।

३—नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (१८६४)।

४—पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और शिक्षा (१८६८)।

५—भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच (१८६८)।

६—शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (१८६६)।

७—जंतुओं की सृष्टि (१६००)।

८—शमशुल उल्मा मौलवी सैयद अली बिलग्रामी (१६००)।

६—पंडितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (१६००)।

१०—दानी जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता (१६००)।

११—भारतवर्ष की शिल्पशिक्षा (१६००)।

१२—वीसलदेव रासो (१६०१)।

१३—भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया (१६०१)।

१४—हिंदी का आदिकवि (१६०१)।

१५—शिक्षा (१६०१)।

१६—फतेहपुर सीकरी (१६०१)।

१७—नीति-शिक्षा (१६०२)।

१८—कर्तव्य और सत्यता (१६०२)।

१६—मुद्राराक्षस (१६०२)।

२०—रासो शब्द (१६०२)।

२१—यूनिवर्सिटी कमीशन (१६०२)।

२२—लाला व्रजमोहन लाल (१६०२)।

२३—नागरी अक्षर और हिंदी (१६०२)।

२४—दिल्ली दरबार (१६०३)

२५—व्यायाम (१६०६)।

२६—चंदबरदाई (१६११)।

२७—हमारी लिपि (१६१३)।

२८—गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली (१६२०)।

२६—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज (१६२०)।

३०—रामावत संप्रदाय (१९२४)।

३१—आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य (१६२६)।

३२—भारतीय नाट्यशास्त्र (१६२६)।

३३—गोस्वामी तुलसीदास (१६२७, १६२८)।

३४—हिंदी साहित्य का वीरगाथा काव्य (१६२६)।

३५—बालकांड का नया जन्म (१६३१)।

३६—चंद्रगुप्त (१९३२)।

३७—देवनागरी और हिंदुस्तानी (१६३७)।

(६) वक्तृताएँ—

१—हिंदी साहित्य-संमेलन (प्रयाग)।

२—प्रांतीय हिंदी साहित्य-संमेलन (अलीगढ़)।

३—ओरियन्टल कान्फरेन्स (पटना)।

४— ,, ,, (बनारस)।

रामचंद्र शुक्ल

शुक्लजी की आलोचना-शैली

जिस प्रकार साहित्य के अन्य अंग अपनी रचना-पद्धति की विशेषता के अनुरूप अनेक प्रकार के होते हैं उसी प्रकार आलोचना की भी विविध शैलियाँ देखी जातो हैं। कहीं तो समीक्षक ग्रंथ अथवा लेखक के गुणावगुण-दर्शन मात्र को ही अपना उद्देश्य मानता है और यदि बहुत हुआ तो केवल इतने ही से संतुष्ट हो जाता है कि अमुक कवि या लेखक का कितना महत्त्व है। इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक कही जायगी। इसमें समीक्षक इस विषय का निर्णय कर सकता है कि कितना अंश सुंदर है और कितना दोषपूर्ण। आलोचना की यह प्रणाली हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में बहुत दिनों तक अबाध रूप से चली इसमें प्रायः दोप-दर्शन और छिद्रान्वेषण ही अधिक होता था। कृति तो पीछे छूट जाती थी और कृतिकार का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रखकर आलोचक समीक्षा की हत्या करते थे। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की समीक्षा का क्षेत्र संकुचित तथा परिमित है। इसमें आलोचक की दृष्टि स्थूल अंशों की ओर अधिक रहती है। वह काव्य की बहिरंग सुंदरताओं का अधिक विचार करता है और अंतरंग विभूतियों की ओर उसकी दृष्टि बहुत ही कम जाती है।

दूसरा ढंग है तुलनात्मक समीक्षा का। इसमें एक ही विषय के विभिन्न कृतिकारों की आलोचना तारतमिक दृष्टि से की जाती है। अमुक लेखक अथवा कवि ने अमुक विषय पर लिखा है; उसी विषय पर, उसी अथवा अन्य भाषा के कवियों ने किस प्रकार लिखा है, उनकी रचनाओं की अपेक्षा पूर्व लेखक में क्या अधिकता अथवा न्यूनता है, इसी की तुलना होती है। इस तुलना में कवि के देश-काल का विचार रखना आवश्यक होना चाहिए। इसमें आलोचक की दृष्टि आलोच्य कृतिकारों पर सम भाव से पड़नी चाहिए अन्यथा पक्षपात की संभावना

अधिक रहती है। ऐसे स्थलों पर आलोचक का दायित्व इसलिए बढ़ जाता है कि उसे अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि और भावनाओं को तटस्थ रखते हुए निष्पक्ष भाव से आलोच्य लेखक अथवा कवि के गुणावगुण का तारतम्य स्थापित करना पड़ता है। इसमें—जैसा कुछ अनुदार आलोचक करते हैं—यह आवश्यक नहीं समझना चाहिए कि समीक्षक का कर्तव्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक वह किसी कवि अथवा लेखक विशेष को अन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट न प्रमाणित कर दे चाहे ऐसा करने में उसे अनुचित और निरर्थक युक्तियों का ही आश्रय क्यों न लेना पड़े।

समीक्षा का तीसरा ढंग है व्याख्यात्मक समीक्षा। इसमें किसी ग्रंथ की साधारण और विशिष्ट सभी प्रकार की बाह्य और आभ्यंतरिक परिस्थितियों, घटनाओं तथा विशेषताओं का व्याख्यात्मक ढंग से स्पष्टीकरण होता है। इसमें आलोचक के लिए यह आवश्यक होता है कि वह कृति के केवल चारों ओर देख-भाल कर अपना दायित्व समाप्त न कर दे वरन् उसके अंतर के स्वरूप से परिचय प्राप्त करे, उसकी आत्मा को पहचाने, और सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उसके स्वरूप का स्पष्ट रूप से विश्लेषण करे। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक को कवि अथवा लेखक के हृदय से अपने हृदय का रागात्मक संबंध स्थापित करना पड़ता है। यदि वह ऐसा न कर सकेगा तो फिर उसके द्वारा खड़ी की गई परिस्थितियों और व्यापारों के मूल में बैठी हुई वृत्तियों की व्याख्या नहीं कर सकेगा। इस प्रकार की आलोचना में समीक्षक की भावुकता, अनुभव, व्यावहारिकता तथा शास्त्रीय ज्ञान का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। निष्पक्षता और सहानुभूति इस प्रकार की समीक्षा की जान हैं।

पं० रामचंद्रजी शुक्ल में विचारशील पाठकों को उपर्युक्त आलोचना की तीनों शैलियों के दर्शन स्थान-स्थान पर मिलेंगे। यों तो प्राधान्य व्याख्यात्मक पद्धति ही का है, परंतु आवश्यकतानुसार यथा-स्थान अन्य प्रकार की पद्धतियों का भी उपयोग दिखाई पड़ेगा। लेखक ने

जायसी, सूर और तुलसी के काव्यगत सौष्ठव की मार्मिक व्याख्या विस्तारपूर्वक की है। किसी अंग को उसने छोड़ा नहीं। हृदय-पक्ष के स्पष्टीकरण में भावुकता तथा सहानुभूति का और कलापक्ष के निदर्शन में शास्त्रीय ज्ञान का योग लेकर उसने वस्तुतः विषय का निरूपण इस प्रकार किया है कि सहृदय लोग इन कवियों की आत्मा भली भाँति पहचान सकते हैं।

[इन आलोचनाओं के आरंभ में लेखक ने इन कवियों के ऐतिहासिक महत्त्व का निरूपण बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है, जिससे उसकी ऐतिहासिक समीक्षा की योग्यता स्पष्ट लक्षित होती है।] गोस्वामी तुलसीदास के आरंभिक अंश में यह विशिष्टता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। तत्कालीन समाज में जायसी और सूर की रचनाओं का क्या महत्त्व और आवश्यकता थी, लेखक ने इसी का विवेचन ऐतिहासिक पद्धति से किया है। [उस समय की सामाजिक और धार्मिक प्रगति का प्रभाव कवि पर किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उन आवश्यकताओं तथा प्रगतियों से प्रेरित होकर उसने अपना ऐकांतिक मार्ग निर्धारित किया इसका निरूपण आलोचक ने विधिवत् किया है।] इसके अतिरिक्त समीक्षक ने इन रचनाओं के पूर्वापर प्रभाव तथा संबंध का भी योग्यतापूर्वक अनुसंधान किया है। इन आरंभिक अंशों के अतिरिक्त भी जहाँ कहीं आवश्यकता दिखाई पड़ी है, वहाँ लेखक ने इस पद्धति का आश्रय लिया है। जैसे जायसी के रहस्यवाद के विवेचन में सूफियों के अद्वैतवाद, प्राचीन यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद तथा भारतीय ज्ञानकांड के मूल-स्वरूप उपनिषदों के अद्वैतवाद में तारतम्य दिखाया गया है।

तुलनात्मक समीक्षा में समीक्षक का व्यापक ज्ञान ही सहायक बनता है। अपने आलोच्य कवि की विशेषताओं के कथन-प्रवाह में यदि समीक्षक का ध्यान अन्य कवियों की उसी प्रकार की मिलती-जुलती विशेषताओं की ओर आकृष्ट हो गया तो अपने विषय के स्पष्टीकरण तथा उसमें रोचकता उत्पन्न करने के विचार से उन्हें भी संमुख रख

लेता है। इस प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि से विषय-प्रतिपादन बलिष्ट और व्यापक बन जाता है। शुक्लजी ने भी जायसी, सूर आदि की आलोचना के योग में अन्य कवियों को लिया है। जायसी ने विरह ताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए ऊहात्मक या व्यंजनात्मक शैली का अनुसरण किया है। उनका ऐसा करना कवि-परंपरा-सिद्ध है, क्योंकि थोड़ा-बहुत इसी प्रकार का वर्णन वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी प्रभृति श्रेष्ठ कवियों ने भी किया है। आगे चलकर जायसी ने जिस प्रकार रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित किए हैं उसी प्रकार की चेष्टा शैली और कबीर प्रभृति अन्य कवियों ने भी की है। इसी प्रकार सूर की अन्योक्तिवाली शैली का स्पष्टीकरण भी जायसी, कबीर, टैगोर इत्यादि की तुलना से किया गया है। अवसर के अनुरूप सूर और तुलसी की साम्यमूलक प्रवृत्तियों की भी तात्त्विक तुलना की गई है। वास्तव में यदि बुद्धि-योग से देखा जाय तो सूर-तुलसी की यह समीक्षा अधिक तात्त्विक और प्रभावशाली हुई है। विभिन्न कवियों की समान रचनाओं के अनेक उदाहरण दे-देकर उनकी विशेषताओं के उल्लेख करने से यह कहीं अधिक अच्छा होता है कि उनके सौष्ठव की तात्त्विक विवेचना की जाय। इसके अतिरिक्त यों तो जहाँ कहीं अवसर आया है, लेखक ने विभिन्न कवियों की विशेषता का सूत्ररूप में उल्लेख किया है, जैसे "यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।"

समीक्षा की निर्णयात्मक प्रणाली शुक्लजी को अप्रिय सी थी। किसी कवि के साधारण गुण-दोषों का कथन मात्र कर तुरंत इस ओर प्रवृत्त होना कि वह अमुक कवि से बढ़कर है अथवा अमुक से घटकर, उन्हें अरुचिकर-सा दिखाई पड़ता था। इन तीनों आलोचनाओं में ॰ पद्धति की समीक्षा स्पष्ट रूप से किसी स्थल पर नहीं दिखाई पड़ेगी।

यह दूसरी बात है कि विस्तार-भय के कारण कहीं-कहीं उन्होंने गुण-दोषों की विस्तृत व्याख्या अथवा विवेचना न की हो; संक्षेप ही में कह दिया हो। अमुक कवि अमुक से बढ़-घटकर है, इस ओर वे बढ़े ही नहीं। "कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी कवि को नहीं।" "इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए।" "मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं।" इस प्रकार के अनेक कथन प्राप्त होंगे; परंतु वे विवेचना के सारांश अथवा आरंभिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं; न तो निर्णय देने के विचार से और न बढ़ाने-घटाने की ही दृष्टि से।

[ऐतिहासिक, तुलनात्मक इत्यादि समीक्षा के जो स्वरूप शुक्लजी में दिखाई पड़ते हैं वे केवल आवश्यकता पड़ने के कारण साधारण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं, वे साधन मात्र हैं। उनमें प्राधान्य व्याख्यात्मक पद्धति ही का है। जायसी, सूर और तुलसी की आलोचनाओं का सौष्ठव उनकी व्याख्याओं में ही दिखाई पड़ता है। इन तीनों रचनाओं में लेखक ने कवियों के हृदय-पक्ष और बुद्धि-तत्त्व की—साधारण तथा विशिष्ट—सभी विशेषताओं की निष्पक्ष परंतु मार्मिक और सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या की है। तीनों आलोचनाओं में आदि से लेकर अंत तक इसी प्रकार की समीक्षा-शैली का उपयोग हुआ है और यही पद्धति शुक्लजी की आलोचना की अपनी शैली है।]

इस ढंग का अनुसरण करने से शुक्लजी अपनी सहायता तथा भावुकता का आश्रय लेकर आलोच्य कवि की मार्मिक विभूतियों के अत्यंत समीप तक पहुँच सके हैं। इसके अतिरिक्त संसार के व्यावहारिक ज्ञान तथा शास्त्रीय पांडित्य के कारण वे काव्यों की बहिरंग विशेषताओं का भी सतर्क विश्लेषण कर सके हैं। [इन कवियों की रचनाओं के अंतर्गत आए हुए पात्रों के विस्तृत जीवन-क्षेत्र की नाना परिस्थितियों, घटनाओं तथा कार्य-व्यापारों के मूल में बैठी हुई मानव मनोवृत्तियों की जैसी स्वाभाविक

और प्रभावशाली व्याख्या उन्होंने की है, उसमें मानव-हृदय एवं प्रकृति के
अंतरतम प्रदेश में प्रविष्ट होने की उनकी योग्यता सर्वत्र लक्षित होती है।
यहाँ एक छोटा-सा उद्धरण लेकर उसका रूप स्पष्ट देखा जा सकता है:—

"सिय मन रामचरन अनुरागा।
अवध-सहस-सम वन प्रिय लागा।
परन-कुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवार कुरंग विहंगा॥"

"अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग
के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर
कहाँ मिल सकते थे? जीवनयात्रा की स्वाभाविक-आवश्यकताओं की
पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ
करना, जल भर लाना, ईंधन और कंद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि
वहाँ के नित्य जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो
विकास हो सकता है वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। इस सुख का
दूसरा कारण था, हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य,
जिसके प्रभाव से 'कुरंग-विहंग' अपने परिवार के भीतर जान पड़ते
थे। जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा?"

आलोचना के धारावाही प्रवाह के अंतर्गत शुक्लजी की व्यक्तिगत
रुचि-अरुचि के दर्शन भी, प्रच्छन्न रूप में ही सही, प्राप्त अवश्य होते
हैं। ऐसे स्थल समीक्षा-विस्तार के भीतर न्यूनातिन्यून मात्रा में होने पर
भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। व्यंग्य और आक्षेप के स्वरूप तो प्रायः सभी
अंशों में मिलते हैं और वे सुंदर प्रतीत होते हैं; परंतु कहीं-कहीं इतने
अधिक स्पष्ट और आवेशयुक्त हैं कि खटक जाते हैं। प्रमाण-स्वरूप वह
स्थल देखना चाहिए जहाँ उन्होंने सूरदास की अन्योक्ति-पद्धति की
तुलनात्मक-विवेचना करते हुए हिंदी के वर्तमान 'छाया-वाद' के ऊट-
पटाँग स्वरूप की असारता का उल्लेख किया है। तुलसीदास का वह
स्थल विचारणीय है जहाँ दस-पाँच पृष्ठों में ही वन-मार्ग में पथिक-वेश
में जाते हुए राम-लक्ष्मण का उल्लेख तीन बार हुआ है। — अंश

मार्मिक और सुंदर अवश्य है, परंतु आलोचक यदि बारंबार एक ही बात को कहे तो उसमें उसका मुग्धत्व उस मात्रा को पहुँच जाता है, जिसमें उसकी विवेचना पंगु बनी दिखाई पड़ती है। इस विषय का अनेक बार उल्लेख स्वयं लेखक को खटका है। उसने लिखा है—"क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है।"

समीक्षक के संमुख कभी-कभी ऐसे स्थल आते हैं, जिनकी कोमलता और सरलता से वह इतना विचलित हो उठता है तथा उसका अंतर् अनिर्वचनीय तुष्टि से इस प्रकार आपूर्ण हो जाता है कि वह अपनी भावनाओं को शब्द-जाल में फँसा नहीं पाता। ऐसी अवस्था का सामना शुक्लजी ऐसे मार्मिक पटु को बहुत कम करना पड़ा था। बुद्धि और भावुकता का इतना अच्छा सामंजस्य अभी तक समीक्षा-क्षेत्र में किसी ने नहीं दिखाया। बुद्धि की न्यूनता तथा भावुकता की प्रबलता शुक्लजी में एक ही दो स्थानों में दिखाई पड़ी है; जैसे—"इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है; इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं, यहाँ वह हृदय खोल कर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।"

[शुक्लजी की अभिव्यंजना-पद्धति और लिखने के ढंग में अंगरेजीपन हो सकता है, परंतु दृष्टिकोण, मानदंड तथा विधान शुद्ध भारतीय थे। तर्क करने का आधार और विचार करने का मानदंड संस्कृत काव्य-शास्त्र के विधान के अनुसार रहता था। वे शास्त्र पक्ष से रसवादी थे और रस के परिपाक को ही काव्य का सौष्ठव मानते थे। रस और उसके अंग-प्रत्यंगों के आधार पर ही आलोच्य काव्य की सदैव विवेचना और व्याख्या करते दिखाई पड़ते थे। आलंकारिक सौंदर्य कलापक्षीय है; अतएव उसकी उपेक्षा न करते हुए भी उसे गौण स्थान देते थे। वस्तु-व्यंजना और चरित्र-चित्रण में भी भारतीय आदर्श को ही प्रधान मानते थे। मर्यादा के आग्रह का प्रतिपादन अथवा औचित्य-विवेचना में भी भारतीय संस्कृति और समाज को ही वे प्रधानता देते थे।]

शुक्लजी के निबंध

प्रधानतया शुक्लजी आलोचक हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में विचार-वितर्क और विश्लेषण-विवेचन ही मुख्य है। उनके लिखे हुए विचारात्मक निबंधों में भी उसी सूक्ष्मेक्षिका का प्रसार दिखाई पड़ता है। विषय के आग्रह से मनोवैज्ञानिक चिंतन-पद्धति का प्रयोग सर्वत्र मिलता रहता है। इस पद्धति का मूल रहस्य न समझने वाले पाठक प्रायः शुक्लजी के इन निबंधों को निबंध-रूप में स्वीकार करने में कुछ हिचकते हैं। पर इस हिचक अथवा संकोच का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता। यथार्थ में ये विचारात्मक निबंध मनोविज्ञान के तात्त्विक अनुशीलन अथवा शास्त्रीय स्वरूपबोध के परिचायक नहीं हैं। उनमें अनुभूतिमूलक कथन ही विशेष रूप में पाए जाते हैं। किसी मनोविकार के जो परिस्थितिजन्य अनेक प्रकार के भेद-वर्ग और अवांतर अवस्थाएँ गिनाई या समझाई गई हैं उनमें मनस्तत्त्व-संबंधी विवेचना उतनी नहीं की गई मिलती जितनी लोकगत व्यवहार की चर्चा। ऐसी अवस्था में इनकी निर्धारित संज्ञा 'निबंध' ही इनके लिए उपयुक्त है।

शुक्लजी ने निबंध के विषय में स्वयं कहा है—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझकर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता

दिखाने के लिए ऐसी अर्थयोजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हरएक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्ते के भीतर नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता है"।[1]

"विचारों की वह गूढ़ गुफित परंपरा उनमें (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में) नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हों"।[2]

शुक्लजी द्वारा स्थापित उक्त मान्यता पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट तथा स्फुट है। इसमें उन्होंने दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। निबंध में व्यक्तित्व की पूरी झलक हो और वह सुगठित हो—आदि से अंत तक। अब जिन्हें शुक्लजी के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति और प्रकृति का ज्ञान होगा उन्हें तो इन मान्यताओं का यथार्थ परिचय मिल

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, १९९७ संस्करण, पृ० ६०५-६।

२. वही, पृ० ६०९-१०।

जायगा। अन्य मीमांसकों को इस क्षेत्र की जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी। उनके लिए यह कहना पड़ेगा कि शुक्लजी के अध्ययन की परिपाटी ही निराली थी, व्यक्तिगत थी, व्यक्तित्व से भरी थी। शुक्लजी पढ़ते कम थे पर अध्ययन और चिंतन अधिक करते थे। वे किसी की रचना अथवा विचार-विमर्श पर स्वयं बहुत तर्क-वितर्क करते रहते थे और अपनी व्यक्तिगत विचार-परंपरा में अपने ढंग से या तो उसका समाहार कर लेते थे अथवा स्थिर रूप में शुद्ध अलग्योझा ही स्वीकार कर लेते थे। उनकी अपनी विचार-परंपरा में शास्त्र, जीवन और जगत् का समन्वय रहता था। अपने शास्त्रीय ज्ञान अथवा प्राप्ति को कहीं तो वे जीवन और जगत के व्यावहारिक रूपों में ढालकर उसकी सच्ची प्रकृति को समझने की चेष्टा करते थे या सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा संधि ढूँढ़कर जीवन के अनुरूप शास्त्र की ही व्यवस्था कर लेते थे। इसी तरह विवेचना-क्रम को शास्त्रों से लेकर, अपनी विचारमयी अनुभूतियों की पूरी छानबीन करते थे। विचार, प्रवृत्ति और भावनाओं की सैद्धांतिक सत्ता को समझकर काव्य, पुराण और इतिहास के साक्ष्य पर उसका शोधन करने के पश्चात् जीवन के साथ उसका संतुलन करते थे। इस प्रकार सार्वदेशिक सुस्पष्टता के वे बहुत कायल थे।

यह अर्जित और अनुभूतिमूलक बोधवृत्ति शुक्लजी की समस्त रचनाओं में दिखाई पड़ती है। निबंधों और अन्य स्थलों पर उनके बात कहने में जो एक प्रकार की सफाई मिलती है उसका रहस्य यही है। उनके सिद्धांत-प्रतिपादन अथवा अनुभूति-प्रकाशन में कहीं भी कोई अंधकार नहीं मिलेगा, भले ही कोई उस सिद्धांत अथवा उसकी विवेचना से सहमत न हो, पर कोई उनकी कही अथवा लिखी हुई बात को अन्यथा रूप में समझे ऐसा नहीं हो सकता। इसी निर्भ्रांत विचार-परिष्कार का सीधा प्रभाव उनकी भाषाशैली पर लक्षित होता है। विषय जितना स्पष्ट उनके अंतःकरण में रहता था उतना ही उनकी लेखनी से निकलकर भी दिखाई पड़ता था। ठीक इसी अर्थ में भाषाशैली अंतःकरण की प्रतिच्छाया कही जाती है।

स्वच्छ चिंतन और व्यवहारमूलक परख के कारण शुक्लजी की रुचि-अरुचि सुनिश्चित आधार पर खड़ी दिखाई पड़ती थी। इसीलिए निबंध लिखते समय जहाँ उनकी रुचि के अनुकूल विषय एवं प्रसंग मिल जाता था वहाँ की सारी विचार-योजना और विवेचना-पद्धति में भावुकता का पर्याप्त योग प्राप्त होता था। इसी तरह जहाँ विषय की लपेट में ऐसा प्रसंग आ जाता था जिसके लिए उनके मन में अरुचि रहती थी वहाँ आक्षेप, व्यंग्य और आक्रोश का भी रूप स्पष्ट प्रकट हो जाता था। यह वैयक्तिक विशेषता उनकी सब प्रकार की कृतियों में समान रूप से प्रसरित दिखाई पड़ती है। इस रुचि-अरुचि-संबंधी कठोर ऋजुता के अतिरिक्त शुक्लजी स्वभाव से ही गंभीर थे, पर विनोद-परिहास के भी पूरे पंडित थे। उनका संपूर्ण बाल्य और यौवन काल खेत-खलिहानों तथा प्राकृतिक सुषमा के बीच व्यतीत हुआ था। इसलिए सर्वत्र सार्वदेशिक गांभीर्य के बीच उनकी प्रकृति-प्रियता और विनोदशीलता मुखरित मिलती है।

अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में शुक्लजी के निबंधों का प्रचार उनके जीवनकाल में ही हो गया था। उन रचनाओं के संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ भी होती थीं और उनके कानों तक पहुँचती थीं। कुछ लोग ऐसे भी मिले जो यह समझते थे कि उनके निबंध प्रायः विषय-प्रधान होते थे। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न होने से वे अपनी परिभाषा-परिधि के बाहर हो गए हैं। इसपर शुक्लजी ने अपनी ओर से आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—

"इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं भी मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

बस, इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।" १

आमुख रूप में इतना कह चुकने पर अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निबंध की जो परिभाषा स्वयं शुक्लजी ने उपस्थित की है और अपने आलोचकों को जो उन्होंने उत्तर दिया है उसके विचार से उनके निबंधों की परीक्षा करने पर क्या परिणाम निकलता है? इसके लिए साक्षी रूप में एक निबंध लेकर विवेचना की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध स्वयं लेखक को पसंद था और अन्य आलोचकों को भी प्रिय है। उसमें कृतिकार की सभी प्रवृत्तियाँ स्फुट हैं और सरलता से उनका दिग्दर्शन भी संभव है। विचार-विमर्श के लिए लक्ष्य केवल एक है—निबंध की उक्त परिभाषा के अनुरूप रचना में क्या विशेषताएँ मिलती हैं, कहाँ तक वह विषय-प्रधान है और कहाँ-कितनी लेखक के व्यक्तित्व की छाप है।

जहाँ तक वस्तु अथवा विषय की प्रधानता का प्रश्न है इतना तो आरंभ में ही स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी के निबंध विचारात्मक अवश्य हैं पर विषय-प्रधान किसी भी अर्थ में नहीं हैं। मनोविकारों अथवा विभिन्न भावों की, जिस ढंग से तद्विषयक शास्त्रीय ग्रंथों में विवेचना की जाती है वह परिपाटी किसी भी निबंध में गृहीत नहीं हुई है। मनस्तत्त्व अथवा मनोविज्ञान के ग्रंथों की योजना ही भिन्न आधार पर होती है। वहाँ विचार-योजना का क्रम मूल आधार को आद्यंत इस प्रकार पकड़े रहता है कि विकास का उतार-चढ़ाव सुसंबद्ध तो बना ही रहता है पर उसकी एकोन्मुखता तर्कमयी दिखाई पड़ती है। विषय का प्रसार सर्वत्र शास्त्र की मान्य गतिविधि के अनुसार नियंत्रित होता है और अंगांगी सभी छोरों की व्यवस्था में एकसूत्रता सदैव परि-व्याप्त रहती है। सैद्धांतिक विषय की विवेचना में विवेचक सर्वथा तटस्थ एवं रूक्ष ढंग से बुद्धि-प्रधान रूप धारण किए रहता है। यहाँ उसका

---

१. चिंतामणि, प्रथम भाग, 'निवेदन'।

रागात्मक तत्त्व मुखर नहीं होने पाता। अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के अनुरूप वह न तो कहीं यात्रा में अधिक रम सकता और न वैधानिक अथवा आवश्यक अंश की उपेक्षा कर शीघ्रता से आगे बढ़ जा सकता है। शुद्ध विषय-प्रधान मीमांसा में मीमांसक का स्वरूप जितना अधिक प्रच्छन्न अथवा ऊपरी भूमि से दूर रहेगा वस्तु अथवा विषय का बोध उतना ही अधिक स्फुट एवं शास्त्रीय सिद्ध होगा। उसके दृष्टांत भी विषय की प्रकृति के ही मेल में रहते हैं। उनमें भी मीमांसक का व्यक्तित्व खुलता नहीं।

इस प्रकार की कोई बात शुक्लजी के किसी निबंध में, कहीं नहीं प्राप्त होती—विशेषकर 'लोभ और प्रीति' में जहाँ तक सामान्य रूप से लिखने-पढ़ने में देखा गया है सिद्धांत की दृष्टि से इस प्रकार लोभ और प्रीति का निवेदन ही नहीं किया गया है, जिस प्रकार किसी मनोविकार का आरंभिक परिचय शुक्लजी उपस्थित करते हैं। वहीं से लेखक मनस्तत्त्व के रूक्ष स्तर को छोड़कर अनुभूतिमूलक व्यवहार-भूमि पर खड़ा दिखाई पड़ता है फिर दो असमान लक्षित होनेवाले भावों के मूल में बैठी हुई एक ही मनोवृत्ति, परिस्थिति और दृष्टिभेद से कैसे दो भिन्न स्वरूप धारण कर व्यवहार जगत् और जीवन में विभिन्न रंग रूप प्रकट करती है इसको भी जिस प्रकार व्यावहारिक उदाहरणों से शुक्लजी ने समझाया है वह भी सिद्धांत-विवेचना की पद्धति पर नहीं है, यदि विषय के प्रसार-क्रम को देखा जाय तो वह भी न तो वैज्ञानिक ढंग से सजाया गया है न उसके भीतर आनेवाले विविध अवांतर भेदों का मनस्तत्त्व-संबंधी स्वरूप स्थिर किया गया है, ऐसी दशा में विषय-प्रधान रचनाओं अथवा ग्रंथों में प्राप्त होनेवाले कोई लक्षण इस निबंध में नहीं दिखाई पड़ते, तर्काश्रयी तत्त्वचिंतन अथवा शुष्क वस्तुप्रधान कथन में निम्न-लिखित पदावली कहीं भी व्यवहृत नहीं मिलेगी, और न व्यक्तिगत आक्रोश एवं उद्वेग ही इतनी छूट के साथ व्यक्त होंगे—

'बेचारा बहुत अच्छा था प्रिय के मुख से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर हो आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं।'

'जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते, लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगीं, आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं, पैसे से राजसंमान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है, जिनके पास कुछ रुपया है बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए, धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिक्धर्म रह गया।'

इसी प्रकार की भाषाशैली में आगे पीछे लेखक ने बहुत कुछ लिखा है। जीवन पर पैसे का प्रभाव कितना छाया हुआ है इस विषयांतर पर इतना जमकर, और वह भी ऐसी पद्धति से, अपने हृदय में संचित भावनाओं को आक्षेपयुक्त ढंग से प्रकट करना इस बात को प्रमाणित करता है कि विषय का उतना आकर्षण नहीं है जितना वैयक्तिक विचार-अनुभूति के प्रकाश का। मनस्तत्त्व-संबंधी शास्त्रीय विवेचना में ऐसे प्रासंगिक अंगों का इतना उग्र कथन अथवा विस्तार से प्रतिपादन नहीं हो सकता। पैसे का मुँह ताकनेवाले समाज से लेखक कितना क्षुब्ध और असंतुष्ट है उसकी विस्तृत व्यंजना उसके व्यक्तित्व का ही उद्घोष कर रही है किसी विषय का सामान्य एवं व्यावहारिक वर्गीकरण करके तुरंत अपनी रुचि के अनुरूप क्षेत्र चुनकर उसी ओर झुक पड़ना, विषय की प्रधानता नहीं है वह तो कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन है। इसी प्रणाली को लक्ष्य करके शुक्लजी ने कहा था—

'निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति इधर

उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है'। आगे चलकर प्रेम की विचित्रता के प्रसंग में आए हुए देशप्रेम का उल्लेख करते-करते लेखक रुक जाता है और अपने को देशप्रेमी कहलानेवालों की कड़ी आलोचना करने लगता है। तब तक के लिए विवेचना-क्रम में अवरोध पड़ जाता है—

'*जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेशप्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का* कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, भाइयो! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा। जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े, या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है! हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं'।... 'रसखान तो किसी की लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली

होने देंगे। मोटे आदमियो! तुम जरा दुबले हो जाते अपने अंदेशे से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता'।

इस प्रकार की व्यक्तिमूलक और अनुभूतिमयी व्यंजना देखकर भी और प्रासंगिक सूत्र पकड़कर विषयांतर की ओर खिंचाव पाकर भी जो शुक्लजी के निबंधों को विषय-प्रधान कहें उनको अक्ल मारी गई है, यही स्वीकार करना पड़ेगा। किसी भी तत्त्वमूलक विषय के प्रसार में इस प्रकार बीच के ब्योरों को लेकर अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार रुककर उग्र रूप में आक्षेप और व्यंग्य कथन, सिद्धांत-निदर्शन की पद्धति नहीं है। 'लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारा मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!' एक किसी पक्के लोभी के सच्चे रूप का यही यथार्थ निर्णय है, पर इस प्रसंग में जो कुछ भी कहा गया है वह उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप का स्थूल निवेदन है न कि उसके विभिन्न व्यक्त कर्मों के भीतर बैठी मनःस्थिति की सूक्ष्म विवेचना। ऐसे स्थल अनेक हैं, और इसमें कृतिकार का व्यक्तित्व जितना अधिक स्फुट है उतना बुद्धिपरक विश्लेषण नहीं।

उदाहरण एवं दृष्टांत भी शास्त्रीय गांभीर्य के साथ नहीं उपस्थित किए गए, उनमें या तो विचार-क्रम को अधिक सुबोध और व्यापक बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है अथवा अवसर एवं संधि पाकर लेखक की अपनी परिहास प्रियता झलकती है, ऐसे उदाहरणों के कारण विवेचना भी व्यक्ति-प्रधान बनी दिखाई पड़ती है। इस पद्धति से उसकी विषयगत रूक्षता भी बच गई है और अभिव्यंजना-शैली भी सरल हो सकी है—'भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं,' 'रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उसपर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे,' 'सीताहरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चार-

पाई पर करवटें बदलवानेवाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है' इस प्रकार के स्थलों के अतिरिक्त जहाँ लेखक आप-बीती निवेदन करने लगता है वहाँ तो खुलकर उसका व्यक्तित्व सामने आ जाता है, सभी निबंधों में शुक्लजी अपने और पाठकों के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित करते मिलते हैं, अपनी निजी अनुभूति प्रकट करने से कथन को बल मिल जाता है, यह प्रणाली अधिक नहीं प्रयुक्त हुई है फिर भी उसकी रूपरेखा एक ही प्रमाण से स्पष्ट हो जायगी—

'पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय बन रहा है, वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं, मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया, यह स्तूप एक बहुत छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे एक छोटा सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं, संयोग से उन दिनों पुरातत्त्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था, रात को जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके, सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे, वसंत का समय था, महुए चारों तरफ टपक रहे थे, मेरे मुँह से निकला महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है, इसपर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे, मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।'

उदाहरण उपस्थित करने का एक दूसरा रूप भी है, उसमें भी शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि ही अधिक स्पष्ट होती है, तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार बड़े विस्तार के साथ प्रचलित काव्य-ग्रंथों में प्राप्त प्रसंगों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, लोभ के तारतम्य में प्रेम के विविध स्वरूपों और प्रभावों का विचार करते समय विस्तार के साथ कहीं उर्दू की शायरी या प्रेम-काव्यों का, कहीं सूर की गोपियों अथवा बंकिम बाबू की आयशा और जगतसिंह का, कहीं साहित्य के अपने पुराने आचार्यों या योरपीय साहित्य के युद्ध और प्रेम वाले युग का, कहीं भारतीय प्रबंध-काव्यों या तुलसी

और ठाकुर की कविताओं का विवरण और साक्षी देकर अपनी इच्छा के अनुरूप विषय का विचार किया है, ऐसे स्थलों पर विचार तो अवश्य ही बहुत स्पष्ट हो गए हैं पर विवेचना की पद्धति विषयोन्मुख न होकर व्यक्ति-प्रधान हो गई है।

इतना होते हुए भी शुक्लजी के निबंध हैं विचार-प्रधान—शास्त्रीय अर्थ में नहीं व्यवहार की दृष्टि से, लौकिक क्षेत्र में प्रमुख मनोविकारों का क्या रूप प्राप्त होता है और विविध परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पड़कर वे किस प्रकार रूपांतरित हो उठते हैं अथवा मनुष्य को भिन्न-भिन्न क्रिया-व्यापारों की ओर प्रेरित करने में सहायक होते हैं इसी का विचार इनमें मिलता है, आवश्यकतानुसार इन मनोवेगों की उत्पत्ति, विकास और परिणाम का विचार करके उनके भेद-प्रभेद भी निरूपित हुए हैं, इस आधार पर वर्गीकरण करते समय उन्हें विचार-प्रधान ही कहा जायगा इसमें दो मत हो ही नहीं सकते, यही विवेचना-क्रम और परिणाम उन निबंधो का भी समझना चाहिए जिनका संबंध सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक समालोचना से है।

जयशंकर 'प्रसाद'

१. कथानक
२. पात्र
३. संवाद
४. रस-विवेचन
५. देश-काल
६. अन्य विषय

कथानक

इतिहास का आधार

'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर 'प्रसाद' के सभी नाटक इतिहास को आधार मानकर चले हैं। अपनी कृतियों के उद्देश्य का कथन लेखक ने स्वयं किया है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है, × × × क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है। × × × मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है"[1]। इसके लिए उसने महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्णयुग कहा जाता है। जनमेजय पारीक्षित से आरंभ होकर यह स्वर्णयुग हर्षवर्धन तक आया है। बीच में बौद्ध काल, मौर्य और गुप्त काल ऐसे हैं जिनमें आर्य-संस्कृति अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुँची है। अतएव तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथार्थ चित्रण के अभिप्राय से लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रतिनिधियों को चुनकर उनके कुलशील और जीवन-वृत्त के द्वारा उस रसोद्बोधन की चेष्टा की है

---

१. 'विशाल', (प्रथम संस्करण की) भूमिका।

जो वर्तमान को जीवित रखने में सहायता कर सके। जनमेजय, अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, हर्षवर्धन इत्यादि उस काल के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। इसलिए लेखक ने इन्हीं व्यक्तियों को अपने रूपकों का नायक बनाया है।

अनुनिश्चित और असुलिखित भारतीय इतिहास में यत्र तत्र बिखरी सामग्रियों को एक सूत्र में पिरोने की तर्कसंगत चेष्टा 'प्रसाद' की उन विशेषताओं में है जो वर्तमान हिंदी के अतिरिक्त अन्य साहित्यों में भी कम दिखाई देती है। इतिहास का गंभीर अध्ययन, प्रसंग-परिकलन की बुद्धि और उपलब्ध इतिवृत्तों की संगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्भुत क्षमता 'प्रसाद' में दिखाई पड़ती है। 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटकों में इसके विशेष दर्शन प्राप्त हैं। इनमें ऐतिहासिक वृत्तों का बड़ा व्यापक विस्तार है, अतएव प्रसिद्ध घटनाओं के साथ साथ अनेक इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों का योग निर्वाह करना पड़ा है। जहाँ तक सभव हुआ है इतिहास की मूल प्रकृति का अनुसरण किया गया है और सुसंबद्धता स्थापित की गई है। परंतु जहाँ कल्पना का प्रयोग नितांत आवश्यक हो गया है वहाँ नाटककार की स्वतंत्रता का भी 'प्रसाद' ने उपयुक्त आश्रय लिया है।

कल्पना का योग

कल्पना का प्रयोग दो प्रकार से दिखाई पड़ता है। पहला तो इतिहास की जो बातें विकीर्ण होकर एक-दूसरे से दूर पड़ गई हैं उन्हें एक सूत्र में बाँधने के लिए और दूसरा नाटकीय पूर्णता के निमित्त कोरे अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि के लिए। अजातशत्रु की मागंधी और श्यामावती, शैलेंद्र और विरुद्धक, एक कर दिए गए हैं। 'स्कंदगुप्त' में दूरवर्ती भटार्क का योग अनंतदेवी के साथ स्थापित करके विरोध-मंडली बलिष्ठ बना दी गई है। स्कंदगुप्त के मालव में राजधानी स्थापित करने की बात इतिहास से सिद्ध न होने पर भी जो स्वीकृत की गई है वह वस्तु-स्थिति को देखने से तर्क-विहीन नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार भीमवर्मा के संबंध की स्थापना भी है।

भीमवर्मा बंधुवर्मा का भाई था या नहीं इस विषय में कोई प्र नहीं है फिर भी वह स्कंदगुप्त के एक प्रांत का शासक अवश्य था। इसी को आधार मानकर 'प्रसाद' ने दोनों को मिला दिया है; और जो बहुत असंगत नहीं मालूम पड़ता। खिंगिल इतिहास का हूण-नेता अवश्य है, परंतु वही खिंगिल स्कंदगुप्त से पराजित भी हुआ था ऐसा इतिहास ने स्वीकार नहीं किया है। शर्वनाग, चक्रपालित और मातृ-गुप्त की नाटकीय स्थिति का अनुमोदन भी कल्पना के आधार पर ही आश्रित है। इसी प्रकार की कल्पना-जन्य संबंध-योजना 'चंद्रगुप्त' में भी दिखाई पड़ती है। तक्षशिला-गुरुकुल में चाणक्य और चंद्रगुप्त के संबंध स्थापन में कल्पना का योग है—यों तो दोनों व्यक्तियों का संबंध इतिहासानुमोदित है। चंद्रगुप्त ने मालवों और क्षुद्रकों का सेनापति बनकर सिकंदर का विरोध किया था— ऐसा कोई उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता, परंतु सिकंदर का मालव-दुर्ग में चोट खा जाना इतिहास-प्रसिद्ध है। दांड्यायन ऐसे महात्मा की स्थिति और सिकंदर का उनके यहाँ जाना इतिहास ने स्वीकार किया है; परंतु वहीं चंद्रगुप्त के विषय में भविष्य-वाणी करा देना एक सुंदर कल्पना है। इस प्रकार के अनेका-नेक उदाहरण और भी हैं। इस प्रकार की ऐतिहासिक कल्पना नाट-कीय चमत्कार उत्पन्न करने के लिए एकत्र की गई है जो सर्वथा अभीष्ट है। कल्पना का दूसरा प्रयोग इसलिए हुआ है कि नाटकीय प्रसंग मिलाए जायँ अथवा पात्रों के कुलशील का सुसंबद्ध चित्र उपस्थित किया जाय। ऐसा करने में स्त्री-पात्रों की सृष्टि प्रायः करनी पड़ती है। उनके नामकरण और चरित्र भी कल्पित किए गए हैं—जैसे; सुरमा, मालविका, विजया, देवसेना, जयमाला, मंदाकिनी, अलका, दामिनी इत्यादि। जिसका जैसा नाम रखा गया है प्रायः चरित्र भी उसी के अनुसार खड़ा किया गया है। कभी-कभी कुछ नामों के लिए आधार भी मिल गया है—जैसे, देवसेना, वासवी आदि के लिए। इन स्त्री-पात्रों की शुद्ध कल्पना द्वारा सृष्टि हुई है, इसीलिए इनमें लेखक की भावुकता अधिक लक्षित होती है। कल्पना के आधार पर कहीं-कहीं परिस्थितियों

की भी रचना कर ली गई है, जिनका उपयोग या तो छूटे हुए अंशों की कड़ी मिलाने के लिए हुआ है या चरित्र की कोई मार्मिकता उद्घाटित करने के निमित्त। चद्रगुप्त नाटक में चाणक्य का कारावास और उससे मुक्ति, कार्नेलिया के प्रेम के कारण चंद्रगुप्त और फिलिपस का द्वंद्व, अथवा शर्वनाग के विपयपति बनने के पूर्व का सारा प्रसंग इसी प्रकार की वस्तु है। ऐसी अन्य स्थितियाँ प्रसंगानुसार सभी नाटकों में मिलेंगी। कल्पित पुरुष-पात्रों की अवतारणा भी उसी अभिप्राय से की गई है जिस अभिप्राय से स्त्री-पात्रों की, परंतु थोड़ा सा अंतर अवश्य है। स्त्री-पात्रों की कल्पना अधिक है; क्योंकि प्रायः कथाएँ राजनीति और इतिहास-संबंधी हैं—जहाँ पुरुष पात्रों का यों ही उपयोग अधिक होता है और स्त्रियों की आवश्यकता कम पड़ती है। इसलिए स्त्रियों की काल्पनिक मूर्तियाँ लेखक को अधिक गढ़नी पड़ी हैं। काल्पनिक स्त्री-पात्रों की भाँति कल्पित पुरुष-पात्रों के नामकरण और चरित्र में भी साम्य रखा गया है—जैसे शिखरस्वामी, विकट-घोष, महापिंगल इत्यादि, 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' नाटकों के प्रायः सभी पुरुप-पात्र ऐतिहासिक है, अतएव वहाँ कल्पना को अवकाश नहीं मिल पाया।

परिस्थिति-योजना

संविधान-सौष्ठव के लिए परिस्थिति-योजना का यथार्थ एवं प्रकृत रूप आवश्यक होता है। सत्य बात तो यह है कि इसी के आधार पर कार्य की अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का संबंध-निर्वाह होने से सौंदर्य उत्पन्न होता है। किसी मुख्य अथवा प्रासंगिक घटना तक पहुँचने में इनका योग आवश्यक है। प्रत्येक प्रधान या प्रासंगिक घटना का भी स्वतः पृथक् आरंभ होता है, जो क्रम से वृद्धि पाता हुआ परिणाम तक पहुँचता है। परिस्थिति एवं घटना में कार्य-कारण संबंध रहना चाहिए अन्यथा परिणाम अथवा घटना को देखकर सामाजिक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ऐसा कैसे हो गया। साथ ही

असंबद्ध घटना अथवा घटनांश का कोई प्रभाव भी नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए स्कंदगुप्त के द्वारा कापालिक के हाथ देवसेना की रक्षा का घटनांश लिया जा सकता है। देवसेना और विजया आरंभ में तो सखी रहती है, फिर विजया देवसेना की हत्या का कारण बन जाती है, क्यों और किस क्रम से? इस विरोध का बीज वहाँ पड़ता है जहाँ दोनों सखियों के बीच में आकर बंधुवर्मा सूचना देता है—हाँ, उनकी (स्कंदगुप्त की) विदाई करनी होगी। संभवतः सिंहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा'। विजया के मन में यहीं से संदेह उत्पन्न होता है। संदेह आवेश में और आवेश विद्वेष तथा विरोध में परिणत होकर उस घटना तक चला जाता है। यह नाटक की कोई मुख्य घटना नहीं है फिर भी यदि परिस्थितियों का वृद्धि-क्रम बुद्धिगम्य न बना होता तो कार्य को देखकर कारण के विषय में जिज्ञासा का भाव बना ही रह जाता। आधिकारिक कथा के नियंत्रण के लिए तो अनेक प्रतिबंध हैं ही, परंतु छोटी-मोटी घटनाओं के लिए भी उसी सिद्धांत का अनुसरण होता है। इन परिस्थितियों की सुसंगत योजना में 'प्रसाद' ने अच्छी प्रतिभा दिखाई है; यही कारण है कि बड़े नाटकों में भी वस्तु-विन्यास सुसंगठित हो सका है। सभी रचनाओं में परिस्थितियों की उद्भावना और योजना सुसंगत है। चंद्रगुप्त और फिलिपस का द्वंद्व इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। फिलिपस के मारे जाने का बीजभूत कारण वहाँ से अंकुरित होता है जहाँ चंद्रगुप्त ने कार्नेलिया को अपमानित होने से बचाया है। कई अवसरों पर जब-जब चंद्रगुप्त और फिलिपस का सामना होता है तब-तब वह विरोध उग्रतर होता जाता है, और अंत में एक मृत्यु घटना घटित ही हो जाती है। यों तो आधिकारिक कथा ऐसी-ऐसी विभिन्न घटनाओं को अपने साथ लगाती हुई चलकर एक सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करती है, परन्तु यदि किसी एक घटना का अपना अस्तित्व अलग से देखा जाय तो उसके लिए भी परिस्थितियों के वृद्धि-क्रम की योजना आवश्यक प्रतीत होगी।

विस्तार-भार

'प्रसाद' के कथानकों में प्रायः आवश्यक विस्तार भी मिलता है जो वस्तु-संविधान में शैथिल्य उत्पन्न करता है। यह विस्तार तीन प्रकार का दिखाई पड़ता है। प्रथम सोद्देश्य होता है, जिसे हम लेखक की अभिरुचि और सिद्धांत मान सकते हैं। जहाँ विरोध अथवा संघर्ष व्यापक हो जाता है वहाँ कुछ दूर चलकर सक्रियता के समाप्त होने पर भी यह दिखाने की आवश्यकता हो सकती है कि किन कारणों से और किन-किन परिस्थितियों में उस विरोध-भाव का शमन होता है। सक्रियता के अभाव में ऐसा स्थल नीरस और अवसादजनक हो जाता है। इसके उदाहरण 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' के अन्तिम अंक के अधिकांश हैं। प्रधान कथा की धारा के साथ चलने से फिर भी यह विस्तार उतना अधिक अरोचक नहीं लगता जितना निरर्थक उत्पन्न किया हुआ विच्छिन्न विस्तार-भार। ऐसा विस्तार उन स्थलों पर दिखाई पड़ता है जहाँ कथा की प्रकृत धारा को रोककर लेखक अन्य प्रसंग उठा देता है और फिर उसी को लेकर वाद-विवाद का रूप जमाने लगता है। ऐसे स्थल लेखक के श्रेष्ठ नाटकों में भी मिलते हैं, जो अरुंतुद ज्ञात होते हैं। 'अजातशत्रु' में शक्तिमती और दीर्घकारायण का विवाद इसी प्रकार का है। 'स्कंदगुप्त' में भी विहार के समीप चतुष्पथ पर ब्राह्मण और श्रमण का वाक्-संघर्ष अप्रासंगिक एवं अतिमात्रा मालूम पड़ता है। इस दृश्य के ठीक पहलेवाला दृश्य भी इसी प्रकार निरर्थक है। 'चंद्रगुप्त' में वह दृश्य भी इसी कोटि का है जिसमें कारावास में पड़ा हुआ चाणक्य राक्षस और वररुचि से विवाद करने लगता है अथवा जहाँ शकटार अपनी राम-कहानी एक साँस में कह डालने की चेष्टा करता है। कुछ न कुछ इस प्रकार की बातें सभी नाटकों में मिलती हैं। इससे मालूम पड़ता है कि लेखक की यह प्रवृत्ति सी हो गई है।

इस प्रकार का दूसरा विस्तार है स्वगत-भाषण। समय और प्रसंगानुसार यदि अल्पविस्तारी स्वगत-भाषण हों तो सहन किए

जा सकते हैं, परंतु द्विजेंद्रलाल राय के कथोपकथनों की भाँति यदि अनियंत्रित और अति विस्तृत हों तो अपनी अप्रकृत अतिमात्रा के कारण सुनते-सुनते उद्वेग उत्पन्न करते हैं। बिंबसार, स्कंदगुप्त और चाणक्य के स्वगत-भाषण इसके उदाहरण हैं। उनकी आवृत्ति तो और भी खटकती है। तीसरा विस्तार ऐसा भी मिलता है कि साधारण सूच्य बातों के लिए भी पूरे दृश्य के दृश्य खड़े कर दिए गए हैं। यदि निःसंकोच विचार किया जाय तो सभी नाटकों में दो-तीन दृश्य ऐसे मिलेंगे जिन्हें निकाल देने पर न कथा का संबंध बिगड़ेगा और न अन्य प्रकार की ही कोई त्रुटि होगी। उदाहरण के लिए 'स्कंदगुप्त' के दो दृश्यों का उल्लेख हो ही चुका है। उनके अतिरिक्त चतुर्थ अंक का अंतिम दृश्य भी वैसा ही है। 'चंद्रगुप्त' के भी एक ऐसे दृश्य का कथन हो चुका है। उसके अतिरिक्त मालव-क्षुद्रकों का परिषद्वाला दृश्य भी शुद्ध सूच्य हो सकता था। अनेक ऐसी बातों के लिए स्वतंत्र दृश्यों की रचना हुई है, जिनकी केवल सूचना ही—किसी भी प्रकार से क्यों न हो—यथेष्ट थी।

अंक और दृश्य

'प्रसाद' का अंकों और दृश्यों के विभाजन का सिद्धांत एक सा नहीं दिखाई देता। 'अजातशत्रु' में जैसा अंकों के भीतर दृश्य और तत्सूचक संख्याओं का निवेश किया गया है वैसा 'स्कंदगुप्त' में नहीं। वहाँ नवीन पद्धति से दृश्यों की संख्याओं का विनियोग है। आगे चल कर 'चंद्रगुप्त' में दृश्य शब्द का प्रयोग नहीं है, केवल संख्याओं का उपयोग हुआ है। वस्तुतः बात यह है कि लेखक अंत तक निर्णय नहीं कर पाया है कि 'दृश्य' शब्द का प्रयोग कहाँ तक परंपरानुमोदित एवं समीचीन है; इसलिए यह परिवर्तन होता गया है। यदि उसने केवल प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया होता तो इस बाधा से बच सकता था। जहाँ उसने उद्घातकों अथवा गर्भांक ऐसे सूच्य दृश्यों का, बिना उल्लेख किए प्रयोग किया है वहाँ थोड़ा सा श्रम स्वीकार करके

उनका उल्लेख भी कर सकता था, परंतु ऐसा किया नहीं गया। परिणाम इसका यह हुआ है कि सभी नाटकों में यत्र-तत्र कई ऐसे दृश्य आए हैं जिनकी अभिनय में, और पढ़ने में भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसके विपरीत वे निरर्थक एवं भार से लगते हैं। उदाहरण के लिए प्रमुख नाटकों को लेना ही उचित होगा। 'चंद्रगुप्त' के प्रथम अंक का तृतीय और सातवाँ, द्वितीय का पाँचवाँ, सातवाँ और दसवाँ आदि तथा 'स्कंदगुप्त' के प्रथम अंक में पथचारी मातृगुप्त, मुद्गल और कुमारदास (धातुसेन) का प्रसंग, चतुर्थ अंक में धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति तथा चतुष्पथ में ब्राह्मण-श्रमण के वाक्-युद्धवाला दृश्य। अथवा ऐसे ही और भी अन्य दृश्यों की या तो आवश्यकता ही नहीं थी अथवा इनकी सूचना भर यथेष्ट थी।

अंकों के विभाजन में भी इस अव्यवस्था का कुछ रूप मिलता है। जहाँ कार्य की अव्यवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों का विचार रखा गया है वहाँ तो कितनी घटनाएँ और प्रसंग एक अंक में आने चाहिए इसका विचार किया गया है—जैसे 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में; अन्यथा स्पष्ट विभाजन में भी गड़बड़ी है—जैसे, 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में। यदि यह विभाजन-क्रिया किसी निश्चित सिद्धांत पर रही होती तो 'चंद्रगुप्त' पाँच अंकों का और 'राज्यश्री' तीन अंकों का नाटक होता। अभिनय के व्यावहारिक विचार से अंकों के क्रमानुसार दृश्यों की संख्या में निरंतर कमी होनी चाहिए, परंतु कुछ नाटकों में तो इसका अनुसरण हुआ है और कुछ में नहीं। निर्णय के लिए कुछ नाटकों के क्रम देखे जा सकते हैं। अंकों और दृश्यों का क्रम इस प्रकार है—'राज्यश्री' में सात-सात-पाँच-चार, 'विशाख' में पाँच-पाँच-पाँच, 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में सात-आठ आठ, 'अजातशत्रु' में नौ-दस-नौ, 'स्कंदगुप्त' में सात-छः छः-सात-छः और 'चंद्रगुप्त' में ग्यारह, ग्यारह-नौ-सोलह (नवीन संस्करण में चौदह)। अंतिम चार नाटकों का क्रम विचारणीय है। इसके अतिरिक्त सभी

पात्र

नायक और प्रतिनायक

नाटक के प्रधान पात्र—नायक—में जिन गुणों तथा विशेषताओं का होना आवश्यक है, वे 'प्रसाद' के नायकों में सर्वत्र हैं क्योंकि 'विशाख' को छोड़कर अन्य सभी नाटकों में नायक भारत का सम्राट् ही है। ख्यातवृत्त का प्रधान पुरुष अवश्य ही कुलशील में श्रेष्ठ होगा—ऐसा निश्चित है। स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त मौर्य, गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त, जनमेजय इत्यादि सभी विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, लोकानुरंजक, वाग्मी, अभिजात, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान स्मृतिमान्, उत्साही कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसंमानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक हैं; साथ ही नाटकीय कथा की शृंखला को आदि से अंत तक जोड़ते जाते हैं। ये सभी नायक महासत्त्व, क्षमावान्, अतिगंभीर, दृढ़व्रत और आत्मप्रशंसा-शून्य हैं। इनमें गर्व भो दिखाई पड़ता है पर विनयाच्छादित। ऐसी अवस्था में वे सभी धीरोदात्त नायक माने जायँगे। उक्त गुणों में से अधिकांश अजातशत्रु में भी हैं। परन्तु प्रश्न उठता है राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी के विषय में जहाँ नायक ने नहीं नायिका ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। उन नायिकाओं में भी प्रायः वे सब गुण विद्यमान हैं जिनके कारण नायक का महत्त्व होता है। इसलिए वे रूपक नायक-प्रधान न होकर नायिका प्रधान कहे जायँगे। विपक्ष-दल के नेता प्रायः धीरोद्धत नायक हैं। ये मायावी, छली, प्रचंड, चपल असहनशील, अहंकारी, शूर और स्वयं अपनी प्रशंसा करनेवाले हैं।

इन गुणों में से अधिकांश भटार्क, राक्षस, आंभीक, रामगुप्त, काश्यप और तक्षक इत्यादि में वर्तमान हैं। 'प्रसाद' के ये विरोधी नेता भी सर्वत्र चारित्र्ययुक्त दिखाई पड़ते हैं।

पताका-नायक

प्रधान नायक के ही समान गुण-धर्मवाला व्यक्ति नाटक के प्रासंगिक कथा-भाग का नायक हो सकता है। उसका अपना कोई भिन्न उद्देश्य नहीं होता। आधिकारिक नायक के ही कार्य-व्यापार में योग देता हुआ उसी की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता देता चलता है। 'प्रसाद' के नाटकों में पताका-नायक का बड़ा भव्य स्वरूप अंकित हुआ है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में महाराज पर्वतेश्वर अथवा मालव राजकुमार सिंहरण कुलशील में श्रेष्ठ और उदात्त चरित्र के पात्र हैं। चंद्रगुप्त के समान ही उसके जीवन का ध्येय भी भारत के संमान की रक्षा है और अंत तक उसी फल की प्राप्ति में योग देते जाते हैं। अधिकारी नायक के समान गुण-धर्म के कारण यह योग बड़ा अच्छा दिखाई पड़ता है। इसी तरह 'स्कंदगुप्त' नाटक में उज्जयिनी नरेश बंधुवर्मा है। वह स्कंदगुप्त की अभीष्ट-सिद्धि में अपने जीवन भर लगा रहता है और कुलीन, त्यागशील, वीर, धीर और उदात्त वृत्ति का व्यक्ति है। अतएव यह योग भी बड़ा अनुकूल मालूम पड़ता है।

स्त्री-पात्र

स्त्री-पात्रों का व्यक्तित्व और चरित्र सभी रूपकों में बड़ी तत्परता और कौशल से अंकित किया गया है। इसमें नाटककार की विशेष सिद्धि दिखाई पड़ती है। इसका एक कारण स्पष्ट है। इनकी सृष्टि के मूल में एक निश्चित सिद्धांत उपयोग में लाया गया है। 'प्रसाद' स्त्री-पात्रों में हृदय की प्रधानता और पुरुष-पात्रों में बुद्धि का वैशिष्ट्य दिखाया गया है। अतएव हृदय की संपूर्ण विभूतियों का प्रसार स्त्रियों में अंकित है। हृदय का विशेष धर्म है भाव-प्रवणता। इसके साथ त्याग, सेवा, उदारता और विश्वास का अखंड योग होना भी आवश्यक

है तथा भावुकता से भरी हुई कोमल विचार-धारा भी होनी चाहिए, जिसके आधार पर आत्मसंमान ऐसी कुछ कठोर वस्तुएँ भी टिक सकें। यही कारण है कि 'प्रसाद' के सभी श्रेष्ठ स्त्री-पात्रों में भावुकता, त्याग और सेवा के साथ मर्यादापूर्ण आत्मसंमान का भाव सदैव जागरित दिखाई पड़ता है। इसका भव्य रूप कल्याणी' और देवसेना में स्पष्ट है। जहाँ प्रेम के साथ आत्मोत्सर्ग का भाव प्रबल है वहीं हृदय में अपमान का हलका सा आघात सहन की रंचमात्र भी शक्ति नहीं है जो हृदय त्याग में वज्र के सदृश कठोर है वही कुसुम-कोमल भी है। कहीं-कहीं इस कठोर उत्सर्ग के साथ निर्लिप्त और लघुतम आत्मनिवेदन भी हो जाता है, जैसा कल्याणी और देवसेना में हुआ है। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि बिना किसी प्रेम की अभिव्यक्ति किए गौरवपूर्ण ढंग से प्रिय के लिए अपने जीवन की बलि चढ़ा दी जाय, जैसा मालविका ने किया है। प्रेम का ऐसा आदर्श रूप भी इसी विश्व में प्राप्त होता है।

स्त्री-जीवन के वैशिष्ट्यपूर्ण महत्त्व का विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है। इसका हलका सा प्रयास, एक घूँट में दिखाई पड़ता है, जहाँ आनंद ने स्वीकार किया है–'आज़ मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है, इस हृदय के मेल कराने का श्रेय वनलता को है'। इससे वही बात पुष्ट होती है कि 'प्रसाद' ने स्त्री को हृदय का प्रतिनिधि माना है। दूसरा स्थल अजातशत्रु नाटक के तृतीय अङ्क का चौथा दृश्य है। वहाँ दीर्घकारायण के मुख से 'प्रसाद' ने स्त्री-महत्त्व का खुलकर प्रतिपादन किया है—'स्त्रियों के संगठन में उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास ही एक परिवर्तन है जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं किंतु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो'। × × × 'मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका शीतल विश्राम है; और वह स्नेह सेवा करुणा की

मूर्ति तथा सांत्वना का अभय वरदहस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृतिस्वरूपा स्त्रियों के सदाचार पूर्ण स्नेह का शासन है।' ××× 'कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है, जो अंतर्जगत् का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुंदर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप'। प्रसंग निकाल कर इसी प्रकार स्कंदगुप्त नाटक में भी मातृगुप्त और धातुसेन के संवाद द्वारा स्त्री-पुरुष के मौलिक एवं दार्शनिक वैषम्य की व्यावहारिक मीमांसा की गई है। इस अन्तर के स्पष्टीकरण की ओर 'प्रसाद' का विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। अतएव उनकी कृतियों की आलोचना करते समय उस सिद्धान्त का विचार आवश्यक है जिसका स्थापन उन्होंने किया है।

स्त्री-महत्त्व के विषय में लेखक के उक्त विचार के अनुसार ही नाटकों में स्त्री-पात्रों का सर्जन हुआ है जहाँ स्त्री अपनी यथार्थ प्रकृति को छोड़कर उच्छृङ्खलता के कारण नाना प्रकार की दुरभि-संधियों में पड़ती है; अथवा ऊँचे स्तर पर से उतरने की चेष्टा करती है। वहाँ उसमें सुधार की आवश्यकता है—जैसे शक्तिमती, छलना, सुरमा, अनंतदेवी और विजया इत्यादि हैं। इन्होंने अनेक प्रकार के कुचक्र रचे परंतु उपद्रवों की शांति के साथ उनकी उद्दंड वृत्तियों का भी सुधार हो गया है। इनके विरुद्ध ऐसी स्त्रियाँ भी रूपकों में दिखाई पड़ी हैं जो साधारण होते हुए भी पातिव्रत के श्रेष्ठ गुण से युक्त होने के कारण उज्ज्वल हो उठी हैं। उनको एकनिष्ठता दिव्य रूप की है। उन्हें आदर्श रूप तो नहीं दिया गया परंतु वे अपने प्रकृत स्वरूप में मनोहर बन गई हैं—जैसे, वपुष्टमा, जयमाला और चंद्रलेखा। इनके अतिरिक्त बाजिरा और मणिमाला ऐसी दुलहिनें भी अपनी मर्यादा के कारण यथार्थ रूप धारण किए हैं। इस प्रकार 'प्रसाद' की रंगीन सृष्टि में स्त्रियों का विविध रूप देखने को मिल जाता है।

आदर्श और यथार्थ

आदर्श पात्रों के रूप में चरित्रांकन की परिपाटी से हम परिचित हैं। आदिकाल से हम राम-रावण के रूप देखते चले आ रहे हैं। एक में गुणों का समुच्चय और दूसरे में अवगुणों का ढेर लगाकर एक को अच्छा ही अच्छा दिखा देना और दूसरे को बुरा ही बुरा कहना यह पद्धति अति प्राचीन है। चित्रण का यह ढंग सरल भी होता है और सोद्देश्य रचनाओं में यह रूप सरलता से खप भी जाता है, पर इधर पाश्चात्य प्रभाव से प्रेरित मनोवृत्ति इसके विरुद्ध हो रही है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व-दर्शन की अभिलाषा बढ़ रही है। लोग यथार्थ चित्रण को अधिक महत्त्व देने लगे हैं और साधारणतः मानव-रूप में देवत्व और असुरत्व का संमिश्रण मानने लगे हैं। अतएव गुणावगुण का योग परम आवश्यक समझा जाने लगा है। यह यथार्थ-प्रियता व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद की जननी बनकर पूज्य बनती जा रही है।

मूलतः 'प्रसाद' भारतीय पद्धति के ही प्रतिपादक हैं। बाह्य आवरण में भले ही उन्होंने थोड़ी सी नवीनता अपना ली हो पर अंतर भारतीय रंग में ही रँगा है। यही कारण है कि आदर्श पद्धति का उन्होंने अनुसरण किया है। बलपूर्वक केवल भारतीय सिद्धांत के प्रतिपालन-निमित्त ही उन्होंने ऐसा नहीं किया किन्तु सारा ढाँचा ही उसी प्रकार का रखा है। 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पचसंधि-समन्वितम्' का जब उन्होंने पूरा निर्वाह किया तो फिर अवश्य ही ख्यातवृत्त के अधिकारी नायक और उनके पताका नायक भी उसी आधार पर उदात्तवृत्ति के हैं। ऐसी अवस्था में उनका आदर्श रूप हो जाना प्रकृत ही है। सभी नाटकों में अधिकारी नायक और उनके सहायक समान रूप से सच्चरित्र, दिव्य और हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त मौर्य, बंधुवर्मा, पर्णदत्त, गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त, सिंहरण इत्यादि सभी आदर्श पात्र हैं। विरोध पक्ष में भी आदर्श रूप ही चलता तो बात खटकने की संभावना थी। अतएव वहाँ यथार्थ

चित्रण की चेष्टा की गई है। इस यथार्थ में भी आदर्श का पुट अवश्य है, क्योंकि उस पक्ष के प्रधान गुण भी अंकित किए गए हैं। भटार्क, राक्षस इत्यादि में दोष-पक्ष प्रबल अवश्य है, परंतु उनमें गुण की भी उपस्थिति स्वीकार की गई। भटार्क अथवा राक्षस धीर, वीर, स्थिर-बुद्धि और चतुर भी हैं। इसलिए उन्हें कुछ दूर तक सफलता भी मिली है। यथार्थ का आधिक्य शर्वनाग, जयमाल, पर्वतेश्वर और आंभीक में है; साथ ही उनमें व्यक्तिवैचित्र्य भी लक्षित होता है। वे अपने प्रस्तुत रूपमें अधिक प्रकृत ज्ञात होते हैं।

इन्हीं आदर्श श्रेणी में आनेवाले पात्रों के चरित्रांकन को वर्गगत भी कहा जा सकता है। एक प्रकार के गुण-धर्मवालों का एक वर्ग विशेष स्थापित हो जाता है। उसी प्रकार यथार्थ पक्षकी दृष्टि से विचित्र व्यक्तित्व-प्रधान पात्रों को वैयक्तिक चारित्र्यवान् पात्र कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें स्वभाव एवं प्रकृति का वैशिष्ट्य दिखाया जाता है। 'प्रसाद' ने वर्गगत चरित्रांकन अधिक और वैयक्तिक कम किया है। इसमें उनकी अभिरुचि भी थी और विषय का आग्रह भी था। फिर भी एकांगिता से वे सर्वत्र बचते गए हैं।

पात्रों की प्रकृति

मनुष्य की प्रकृति सहज होती है। उसी के अनुसार विकास होने से उसके वर्धमान रूप के मूल में उस प्रकृति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति सरल और कोई गंभीर होता है। सरल व्यक्ति के जीवन की धारा एक क्रम से निर्दिष्ट मार्ग की ओर अग्रसर होती चलती है और उसका बाह्याभ्यन्तर एक सा दिखाई पड़ता है। उसकी स्थिर प्रकृति और प्रकृति के रूप में भी विशेष परिवर्तन नहीं होता। उक्त आदर्श रूपवाले व्यक्ति इस प्रकृति के होते हैं। मार्ग चाहे उनका अच्छा हो अथवा बुरा, उनके समझने में विलंब नहीं होता, क्योंकि वे भीतर-बाहर से एक होते हैं। ऊपर से देखने में कुछ और मालूम पड़े और सूक्ष्म दृष्टि में कुछ और ऐसा प्रायः नहीं होता।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति गूढ़ प्रकृति के होते हैं। इनको समझना सरल नहीं होता। इनके स्थूल वाह्य और सूक्ष्म अंतर में, बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। स्वभाव ही इनका गुप्त और गंभीर होता है। इनको बारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकृति की विशेषताएँ मिलती हैं। भले ही इनका संकलित रूप आदर्शात्मक अथवा पतनोन्मुख हो पर इनके कार्य व्यापारों की सूक्ष्म आलोचना करने पर प्रवृत्ति भिन्न ही दिखाई पड़ेगी। ये हँसते हुए भी रोते रह सकते हैं और रोते हुए भी हँसते। ऐसे ही लोगों में अंतर्द्वंद्व का प्रसार प्रकृत रूप में दिखाया जा सकता है। इन व्यक्तियों के भीतर ही भीतर निरंतर दो विरोधी भावों का संघर्ष होता रहता है और बाहर ये प्रकृतिस्थ दिखाई पड़ते हैं। सुख-दुःख में समत्व इनके चरित्र की विशेषता होती है। ये धीर, शांत एवं अतीव सहिष्णु बने रहते हैं। 'प्रसाद' की रचनाओं में इस प्रकृति के पात्र भी प्रायः मिलते हैं। 'अजातशत्रु' के बिंबसार, वासवी और मल्लिका इसी प्रकार के पात्र हैं। स्कंदगुप्त और देवसेना में इसी प्रकृति का बाहुल्य है। देवसेना के चरित्र का उद्घाटन बड़ी सुंदरता से हुआ है इसीलिए इसमें इस द्वंद्वात्मक प्रवृत्ति का गांभीर्य दिखाई पड़ता है, दिन-रात की उसकी संगिनी जयमाला उसकी प्रकृति को समझती तो है पर निश्चय करने में वह भी असमर्थ रहती है, उसकी मुद्रा देखकर कभी-कभी आश्चर्य-मय कुतूहल से प्रेरित होकर कहती है—'तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है—तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है'। उसने स्वयं भी अपनी द्वंद्वात्मक स्थिति का प्रकाशन किया है—'नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख सुंदर होता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती है। उसी में सब छिप जाता है'। यह गूढ़ प्रकृति का कितना भव्य रूप है। स्कंदगुप्त के अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ आद्यन्त विराग का द्वंद्व दिखाया गया है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में गूढ़ प्रकृति का रूप चाणक्य में लक्षित है। कात्यायन के इस कथन में यह स्पष्ट हो गया है—'तुम

हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।' द्वंद्वपूर्ण चारित्र्य की ऐसी भव्य उद्भावना केवल पश्चिम की देन नहीं है। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' अथवा 'कालाग्नि-सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः' में चारित्र्य का ही वैषम्य ध्वनित है।

विदूषक

विदूषक पात्रों का सर्जन 'प्रसाद' ने कम किया है, क्योंकि परिहास का अवसर गंभीर और संघर्षपूर्ण स्थिति में मिलता कहाँ है। 'प्रसाद' ने दो रूपों में विदूषकत्व की अवतारणा की है। अधिकतर तो नाटक के पात्रों को परिहासी और विनोदी प्रकृति का बनाकर काम निकाल लिया है-जैसे, महापिंगल, विकटघोष, काश्यप इत्यादि। कहीं-कहीं प्राचीन पद्धति के अनुसार स्वतंत्र रूप में भी विदूषकों की सृष्टि की है, जैसे 'अजातशत्रु' में वसंतक एवं 'स्कंदगुप्त' में मुग्दल। इन विदूषकों की विशेषता भी प्राचीन पद्धति से ही मिलती-जुलती रखी गई है। राजाओं के अंतरंग मित्र के रूप में रहकर उनकी आलोचना करना, उनकी अभीष्ट-सिद्धि में योग देना, समय-समय पर छूटे हुए नाटक के कथांशों को मिलाते चलना, दूतत्व करना और अपने विनोदपूर्ण व्यंग्यों से लोगों को प्रसन्न करते रहना, इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में वसंतक और मुग्दल भी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। जहाँ क्रियाव्यापार का वेग अधिक हो गया है अथवा परिस्थिति ने अनुग्रह नहीं किया वहाँ विदूषकत्व की केवल गंध भर पहुँच पाई है और उस गंध का भी गला दबा ही रह गया है—जैसे, 'ध्रुवस्वामिनी' और 'चंद्रगुप्त' में।

संवाद

प्रयोजन

अन्य प्रकार की रचनाओं में लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रहने के कारण संवादों के अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय भी रहते हैं जिनके द्वारा वह पात्रों के कुलशील और वस्तु-स्थिति का परिचय दे सकता है और आवश्यकतानुसार सब की आलोचना भी करता है, परंतु नाटक में एकमात्र संवाद ही उसका साधन रहता है। ऐसी अवस्था में नाटकों के संवाद विशेषतः अभीष्ट-साधक होने चाहिए। उनकी रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे कथानक को अग्रसर करते रहें और चरित्र-चित्रण में पूरा योग देते चलें। 'प्रसाद' के नाट्य संवादों में ये दोनों प्रयोजन सर्वत्र सिद्ध होते हैं—'ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं। (ठहरकर) नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसंमान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी'। ध्रुवस्वामिनी के इन वचनों में वस्तु स्थिति का निवेदन भी है और चारित्र्य का प्रकाशन भी। उसमें क्षत्राणी की तेजस्विता, दृढ़ता, आत्मसंमान और स्वावलंबन है—यह एक ही स्थल से प्रकट हो जाता है। यदि संवाद सुगुंफित और सारगर्भित हो तो थोड़े में ही बहुत सा वक्तव्य व्यक्त कर दिया जा सकता है—'राज-कर मैं न दूँगा। यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई। काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है। तुमने उसी समय उसे क्यों न बंदी बनाया'। आजातशत्रु के इन शब्दों में जहाँ उसका कठोर, उग्र, उद्धतरूप प्रकट हो रहा है वहीं काशी के शासन की दुर्बलता और अव्यवस्था भी ध्वनित हो रही है। इसी प्रकार सर्वत्र संवादों को साभिप्राय बनाने की चेष्टा दिखाई पड़ती

है। दूसरा प्रयोजन कथानक को अग्रसर बनाना भी सर्वत्र लक्षित होता है। 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' के प्रथम दृश्य ही इस विशेषता का अच्छा उद्घाटन करते हैं। उन्हीं की भाँति अनेकानेक अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं। इस विचार से 'प्रसाद' के कथोपकथन बड़े ही सजीव हुए हैं।

संक्षेप और विस्तार

रूपक में सवादों के अधिक बड़े हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता का ह्रास हो जाता है। यदि 'प्रसाद' के रूपकों के ऐसे स्थलों को विचारपूर्वक देखा जाय तो यह दोप प्रायः मिलेगा। इस दोप के दो कारण दिखाई पड़ते हैं। पहला है—जहाँ-कहीं विवाद होने लगा है वहाँ अपने समस्त तर्कों को एक साथ प्रयोग करने की प्रवृत्ति पात्र रोक नहीं सके है। एक विषय से संबद्ध बातें एक प्रवाह में आई हैं। यह वितर्क-प्रवाह यदि खंड-खड होकर आया होता तो वेग भी बढ़ जाता और यह दोष भी न रहता। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ धारावाहिकता का चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो गया है, परन्तु ऐसे स्थल न्यून हैं। एक अच्छा सा उदाहरण 'ध्रुवस्वामिनी' में वहाँ मिलता है जहाँ पुरोहित और ध्रुवदेवी का विवाह-विषयक विवाद है। इसके अतिरिक्त अधिकांश विवादपूर्ण स्थलों पर वही दोप दिखाई पड़ता है। उक्त नाटक को छोड़कर यह दोप अन्य सभी नाटकों में उपलब्ध है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' के चतुर्थ अंक का वह स्थल जहाँ ब्राह्मण-श्रमणों का संघर्ष हुआ है, 'चंद्रगुप्त' में युद्ध-परिषद् 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' का प्रथम दृश्य अथवा 'अजातशत्रु' का शक्तिमती-कारायण-संवाद। जहाँ-कहीं विवाद उठा है वहीं लंबे-लंबे कथोपकथन मिलते हैं। दूसरा कारण है भावुकता। भाव-प्रवण पात्र अपनी बातचीत में 'कल्पना-प्रधान भाव-भंगी का प्रयोग करते हैं; अतएव विषय उपस्थित करने की शैली में ही विस्तार हो जाता है। इसके अतिरिक्त आवेशयुक्त भावातिरेक की संपूर्ण पदावली को एक अटूट धारा में कहते हैं, इसलिए भी विस्तार बढ़ जाता है। ऐसे स्थलों की बहुत अधिकता है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' के

द्वितीय अंक का प्रथम, चतुर्थ अंक के प्रथम तथा अंतिम, पंचम अंक का प्रथम; 'चंद्रगुप्त' के तृतीय अंक का छठा; 'अजातशत्रु, के' द्वितीय अंक के प्रथम, तृतीय और आठवें दृश्य हैं। कहीं-कहीं जब वह भावुकता कवित्व को भड़का देती है तो भी विस्तार बढ़ जाता है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' का वह दृश्य जिसमें मातृगुप्त और मुद्गल कविता के पीछे पड़ गए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कई कारणों से संवादों में विस्तार आ गया है जो अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

अन्य स्थलों के संवाद व्यावहारिक और विषय-संगत हैं, विषय की प्रकृति के अनुसार वेगयुक्त अथवा मंदगामी हैं। वीर रस से संबद्ध संवाद आवेश और उत्कर्ष से भरे हैं और जो प्रेम के प्रसंग में आये हैं उनमें भावुकता और मंद माधुर्य का विस्तार दिखाई पड़ता है। सभी रूपकों में प्रायः प्रधानता वीर रस की है, अतः दृप्त तेजस्विता से भरे संवादों की अधिकता है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' में गांधार की घाटी और कुभा के रणक्षेत्र में तथा मालव की राजसभा में; तथा 'चंद्रगुप्त' के द्वितीय अंक के ग्यारहवें दृश्य में दूसरी ओर मंदगामी मधुर संवादों की भी कमी नहीं है, क्योंकि प्रायः सर्वत्र ही वीर का सहयोगी शृंगार रस है। इसलिए प्रेम और भावुकता से आपूर्ण कथोपकथनों की भी अधिकता दिखाई देती है—जैसे 'स्कंदगुप्त' के तृतीय अंक के उपवनवाले और अंतिम दृश्य हैं अथवा 'चंद्रगुप्त' के चतुर्थ अंक का दसवाँ दृश्य है। शुद्ध व्यावहारिक कथोपकथन भी सजीव और अपने प्रकृत रूप में मिल जाते हैं। वहाँ क्रिया के प्रवाह में इतिवृत्त का प्रसार भी होता चलता है—जैसे, 'चंद्रगुप्त' के द्वितीय अंक के दसवें और अंतिम तथा 'स्कंदगुप्त' के प्रथम अंक के अंतःपुर और पथ के दृश्य हैं।

स्वगत-भाषण

वर्तमान समीक्षकों के विचार से नाटकों के स्वगत-भाषण अयथार्थ अतएव अवांछनीय हैं। 'विशाख' नाटक में 'प्रसाद' ने भी महापिंगल के द्वारा नाटकों के स्वगत पर व्यंग्य करते हुए कहा है—'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक-समाज वा रंगमंच सुन लेता है,

पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उनको भरत बाबा की शपथ है'। इससे यह प्रकट होता है कि नाटककार स्वगत-भाषण को प्राकृतिक और बुद्धि-संगत नहीं मानता, फिर भी स्वयं उसने अपनी रचनाओं में उसका इतना अधिक प्रयोग किया है कि वह दोष की सीमा में पहुँच जाता है। ऐसा कोई नाटक नहीं जहाँ इसका प्रयोग न हो और प्रयोग ही नहीं आधिक्य न हो। इतना ही नहीं ये स्वगत-भाषण भी लघु नहीं बड़े दीर्घकाय हैं। इस स्वगत रोग से सभी प्रमुख पात्र पीड़ित दिखाई पड़ते हैं। पात्रों के हृदय की आँधी को इस ढग से प्रकाशित कर देना है तो सरल, परंतु एकांत में इतना अधिक बोलना अप्राकृतिक ज्ञात होता है, सो भी दो एक बार नहीं—बारंबार। इसी वेगयुक्त विचार अथवा भाव-धारा को यदि टुकड़े-टुकड़े करके संवाद का रूप दिया जाय और वाग्योग के लिए कोई एक पात्र और रख लिया जाय तो यह दोष बचाया जा सकता है। कहीं कहीं तो ऐसे स्थल बहुत ही खटकते हैं। प्रायः भिन्न-भिन्न प्रकृति के पात्र कहीं टहलते हुए, कहीं मार्ग में जाते हुए, कहीं एकाकी बैठे हुए, कहीं किसी से बातचीत करते ही करते—लगते हैं अपने आप ही बोलने। छोटे मोटे स्वगत-भाषणों की तो भरमार है। उनके स्थल-निर्देश की आवश्यकता नहीं है। विशेष उल्लेख तो उन स्वगतों का करना है जिनमें पात्र केवल इसी अभिप्राय से जमकर बैठा दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है—जैसे, 'चंद्रगुप्त' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ १७, ३५, ११३, १३२, १७०, २१२। 'स्कंदगुप्त' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ १६, ९३, १२५, १३६, १४६, १४७, १४९। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ११, ६०, ८२। 'अजातशत्रु' (चतुर्थ संस्करण) पृष्ठ ७, ४१, ६०, ६८, ७६, ६१, १११, १४०,। 'ध्रुवस्वामिनी' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ २, ३८, ७२। 'विशाख' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ३६, ६८। स्वगत-भाषणों का इतनी प्रचुर मात्रा में प्रयोग अवश्य ही दोष की बात है। कहीं-कहीं एक ही क्रम में दो व्यक्तियों का स्वगत-कथन अथवा एक ही

व्यक्ति के द्वारा इसका बारंबार प्रयोग अधिक खटकने लगता है। 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य से अनेक बार स्वगत-भाषण कराया गया है।

कार्यगति-प्रेरक और रोधक संवाद

संवादों की प्रकृति भी दो प्रकार की होती है। संवादों में परिस्थिति का उद्घाटन करते हुए कार्यव्यापार में नियोजित करने की क्षमता होती है। किसी स्थल विशेष के संवाद से ही यह प्रकट हो जाता है कि विषय और परिस्थिति में गति है अथवा नहीं। समीप भविष्य का संभावित रूप भी उसके द्वारा समझ में आने लगता है। वस्तुस्थिति किस ओर अग्रसर है और कहाँ तक बढ़ सकती है इसका अनुमान संवाद के वर्तमान रूप को ही देखकर लगाया जा सकता है। किसी कार्य में प्रवृत्त करनेवाले संवादों में नई-नई बातों, नए-नए भावों, सक्रियता के रूपों और परिणामों का निरंतर प्रकाशन होता चलता है। कहा जा चुका है कि इसी उपादेयता के कारण साधारणतः सब प्रकार की रचनाओं में और मुख्यतः नाटकों में सवादों के आधार पर कथा का प्रसार तथा चरित्रांकन होता है। कथा का प्रसार करनेवाले जितने संवाद होंगे उनमें प्रेरकता अवश्य रहेगी। उदाहरण के लिए 'चंद्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के पहले, पाँचवें और नवें दृश्य लिए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रसाद' के अन्य प्रमुख नाटकों में सर्वत्र ही प्रेरक संवादों की अधिकता है। यदि ऐसे संवादों की न्यूनता हो तो अवश्य ही वस्तुविन्यास सुशृंखलित एवं सुसंविहित न रह सकेगा। जो संवाद ऐकांतिक विचार-धारा से युक्त होंगे अथवा किसी उग्रता को शांत करने के लिए उपदेश अथवा वितर्क के रूप में आवेंगे उनमें क्रिया की ओर प्रवृत्त करने की शक्ति नहीं रह जायगी, क्योंकि वे तो उसी का विरोध करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त वहाँ भी संवादों में कोई प्रेरणा नहीं दिखाई पड़ेगी जहाँ या तो केवल किसी बात की सूचना दी जाती होगी अथवा निष्क्रिय भावुकता से प्रेरित विचार-विमर्श होता रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि निष्क्रिय

भावुकता, वितर्क, विवाद, सूचना और उपदेश आदि के कारण क्रिया की गति रुद्ध हो जाती है। सरोवर का जल जैसे बँध जाने से स्थिर और शांत रहता है उसी प्रकार इन स्थलों का कथा-प्रवाह भी वेग-रहित हो जाता है। उस स्थान या अवसर विशेष के ऐकांतिक विषय को लेकर ही पात्रों में उत्तर-प्रत्युत्तर होता रहता है। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे संवादों के भी रूप मिलते हैं, भले हा वे न्यून हों—जैसे, 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के तीसरे, पाँचवें और सातवें तथा तृतीय अंक के तृतीय और छठें दृश्य तथा 'स्कंदगुप्त' का ब्राह्मण-श्रमण-संघर्षवाला दृश्य अथवा वह दृश्य जिसमें मातृगुप्त मुद्गल को काव्य का रूप समझा रहा है। इनके अतिरिक्त पूर्वकथित वे सभी दृश्य इसके उदाहरण हो सकते हैं जो कथानक की क्षिप्रगति में भार-रूप है अथवा निरर्थक विस्तार के कारण अप्रासंगिक हैं।

संवाद में कविता का प्रयोग

यों तो संवादों में कविता का प्रयोग भारतीय नाट्य-परंपरा की वस्तु है, परंतु 'प्रसाद' पर नवीन युग को पारसी पद्धति का प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि 'उत्तररामचरित' या 'अभिज्ञान-शाकुंतल' वाली काव्य-प्रयोग-प्रणाली उन्होने नहीं ग्रहण की। यहाँ तो केवल कहीं-कहीं विपय-निवेदन से ओज और शक्ति उत्पन्न करने के अभिप्राय से दो-दो, चार-चार पंक्तियों का उपयोग हुआ है। 'प्रसाद' ने अपनी आरंभिक रचनाओं में इसका प्रयोग किया है पर उत्तरोत्तर उनके जैसे-जैसे नवीन संस्करण प्रकाशित होते गए हैं वैसे-वैसे उनके संवादों से कविता पृथक् की गई है। इस प्रकार के संवाद 'राज्यश्री' और 'विशाख' के प्रथम संस्करण में अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। यों तो 'स्कंदगुप्त' में भी हूण आक्रमण के समय जो त्राहि-त्राहि मचती है वह कविता ही में व्यक्त की गई है। अच्छा हुआ जो संवादों की यह अप्राकृतिक प्रवृत्ति 'प्रसाद' में नहीं बढ़ी।

रस-विवेचन

सक्रियता और रस-निष्पत्ति

सक्रियता और समष्टि-प्रभाव अथवा प्रभावान्विति को ही पाश्चात्य आलोचकों ने नाटक का प्राण कहा है। भारतीय रस-निष्पत्ति में इन दोनों का समन्वय है। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से ही रस की पूर्ण दशा प्राप्त होती है। इस संयोग और अन्विति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं रह जाता। प्रभाव की यह अन्विति उत्पन्न ही नहीं हो सकती यदि क्रिया-व्यापार के वृद्धि-क्रम की तीव्रता उखड़ जाय। सक्रियता का वेग यदि आरब्ध होकर निरंतर एकरस बढ़ता ही जाय तो अंत में किसी घटना विशेष का आश्रय लेकर उसका एक सामूहिक प्रभाव ऐसा पड़ता है कि सामाजिक का चित्त निर्लिप्त आनंदातिरेक से विह्वल हो उठता है। इस आनंदानुभूति को कुछ लोग प्रभावान्विति और कुछ लोग रस-दशा की पूर्णता कहते हैं। ऐसी दशा में इस पूर्णता के प्रधान अवयवों—विभावानुभावादि—का यथास्थान चित्रण आवश्यक है। आलंबन एवं उद्दीपन विभावों के जो अनुसारी परिणाम रूप अनुभाव और संचारी हैं यदि इनका यथोचित आयोजन हो जाय तो रसोद्रेक अवश्यंभावी है। इनकी सत्ता क्रिया-व्यापारों के द्वारा ही व्यक्त होती चलती है अतएव सक्रियता का वृद्धि-क्रम भी साथ ही साथ चलता रहेगा, जिसका परिणाम अंत में प्रभावान्विति के रूप में अवश्य ही उत्पन्न होगा।

रसावयव

आलंबन विभाव के चित्रण में 'प्रसाद' ने बड़ी चातुरी दिखाई है। आश्रय के तेज-प्रताप, शक्ति-बल इत्यादि के अनुरूप विपक्ष-दल यदि नहीं अंकित किया जायगा तो आश्रय का महत्त्व नहीं स्थापित हो सकता। 'स्कंदगुप्त' में आक्रमणकारी विदेशी शत्रुओं की बर्बरता, अत्याचार और उच्छृंखलता उतनी भयंकर न प्रमाणित होती यदि उसमें भटार्क के मिल जाने से अनंतदेवी के उग्र अंतर्विरोध का योग न होता। उसके कुचक्रों और दुष्प्रयत्नों के कारण धर्म संघ भी विरोधी बन गए। इस प्रकार आश्रय-पक्ष का दायित्व और कर्मशीलता बढ़ गई और आलंबन-पक्ष बड़ा प्रबल दिखाई पड़ने लगा है। विभाव का दूसरा अंग जो उद्दीपन है वह भी आलंबन के साथ-साथ चलता है। शत्रु का उत्कर्ष और प्रताप देखकर ही आश्रय में अनुभाव का रूप प्रकट होता है। अनंतदेवी का षड्यंत्र, देवकी और देवसेना की हत्याओं की चेष्टा इत्यादि उद्दीपन रूप में हैं। कुभा के रणक्षेत्र में की गई भटार्क की प्रवंचना भी इसीके अंतर्गत आयगी। शत्रु की शक्ति और उत्कर्ष से उद्दीपित होकर आश्रय के उत्साह का जो बाह्य रूप प्रकट होता है वही अनुभाव कहलाता है। आलंबन के अनुरूप ही 'प्रसाद' ने अनुभाव और संचारियों की भी योजना की है। जहाँ रस के संपूर्ण अवयवों का पूरा संयोग बैठ गया है वहाँ रस-निष्पत्ति और सक्रियता की पूरी अन्विति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में जो सक्रियता का अच्छा दर्शन होता है उसका यही कारण है। वेगयुक्त प्रवाह से ये नाटक आद्यंत भरे हुए हैं। 'चंद्रगुप्त' में तीन प्रमुख घटनाएँ और आलंबन के तीन-तीन दल होने से ही नाटक का वस्तु-विस्तार अधिक दुर्भर या अप्रिय नहीं लगता। 'ध्रुवस्वामिनी' में एक ही विरोध शक्ति है तो उसका वस्तु-प्रसार लघु है। इन तीनों नाटकों में रस के विभिन्न अवयवों की योजना अच्छे क्रम से हुई है, इसलिए ये ही तीनों रचनाएँ सर्वोत्कृष्ट हो सकी हैं।

प्रधान एवं सहयोगी रस

प्रायः सभी नाटकों में प्रधानता वीर रस की ही मिलती है। अपने अंगोपांग से युक्त वह वीर रस समय-समय पर अन्य रसों से भी पुष्ट होता गया है—शृंगार, शांत और हास्य भी यथास्थान आ गए हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का प्रेमभाव उत्तरोत्तर विकास पाता गया है और वीर रस का सहयोगी बनकर जीवित दिखाई पड़ता है। 'स्कंदगुप्त' की राजनीतिक जीवन-धारा के भीतर प्रेम-शृंगार का प्रच्छन्न प्रवाह भी चलता है। 'चंद्रगुप्त' में तो कई प्रेमी दल हैं। वहाँ तो शृंगार के सभी अंग दिखाई पड़ते हैं—विशेषकर अलका और सिंहरण के प्रेम-व्यापार में। गुरुकुल में अलका को देखकर सिंहरण के भीतर रति-भाव का बीज पड़ता है। अपने समान धर्म और उद्देश्य में लगी देखकर, अपनी हितकामना और रक्षा के लिए उसे सतत प्रयास करते पाकर सिंहरण का वह रति भाव उद्दीप्त होता है। यवन से रक्षा करना, प्रेम-निवेदन करना आदि अनुभाव हैं और संचारी रूप में हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, विषाद इत्यादि मिल जाते हैं। प्रथम दृश्य में अलका के हृदय में भावोदय का रूप भी अच्छा दिखाया जाता है। कहीं-कहीं शांत रस का चित्रण भी हुआ है—जैसे, 'अजातशत्रु' के बिंबसार और वासवी में इसका विकास है। 'चंद्रगुप्त' का चाणक्य भी शांत रस का आश्रय है। उसके प्रसंग में इस रस का विस्तार मिल सकता है। लक्ष्य-प्राप्ति के उपरांत उसके हृदय में निर्वेद स्थायी भाव उत्पन्न होता है। परमार्थ में ही वह लगा दिखाई पड़ता है। दांड्यायन के आश्रम में जाना उद्दीपन है। वैखानस होने की इच्छा करना, सब संघर्षों से तटस्थ होने की चेष्टा करना आदि अनुभाव के अंतर्गत हैं और हर्ष, मति, स्मृति, निर्वेद, विरोध इत्यादि संचारी भी दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो चाणक्य के पक्ष में शांत रस का अच्छा विकास है। सुवासिनी के प्रसंग में भावशांति भी सुंदर ढंग से

दिखाई गई है। बीभत्स का आभास 'स्कंदगुप्त' के कापालिक-प्रकरण में मिल जाता है और भयानक हूणों के अत्याचार में।

हास्य-परिहास

'एक शब्द कामिक—हास्य—के बारे में लिखना है। वह यह कि वह मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है। जिस जाति में स्वतंत्र जीवन की चेष्टा है वहीं इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखाई देते हैं। परंतु यहाँ रोने से फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे, अँगरेजी का अनुकरण हमें नहीं रुचता, हमारी जातीयता ज्यों-ज्यों सुरुचि-संपन्न होगी वैसे-वैसे इनका शुद्ध मनोरंजनकारी विनोदपूर्ण और व्यंग का विलास होगा, क्योंकि परिहास का उद्देश्य संशोधन है, साहित्य में नवरसों में वह एक रस है, किंतु इस विषय की उत्तम कल्पनाएँ बहुत कम हैं। आज एक पारसी रंगमंचवाले हैं कि स्वतंत्र कथा गढ़कर दो तीन दृश्य में फिर नाटक में जगह-जगह उसे भर देते हैं जिससे कभी कभी ऐसा हो जाता है कि अतीव दुःखद दृश्य के बाद ही एक फूहड़ हँसी का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है, जिससे जो कुछ रस बना हुआ रहता है वह लुप्त हो एक बीभत्स रसाभास उत्पन्न कर देता है। इसका परिपाक पूर्ण रूप से होने नहीं पाता और मूल कथा के रस को बार-बार कल्पित करके दर्शकों को देखना पड़ता है। अंत में, नाटक देख लेने पर, एक उत्सव वा तमाशा का दृश्य ही आँख में रह जाता है। शिक्षा का—आदर्श का—ध्यान भी नहीं रह जाता। इसलिए हम ऐसे कामिक के विरुद्ध हैं।'—('विशाख' की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृ० १०-११)।

नाटक में प्रयुक्त होनेवाले हास्य के विषय में स्वयं लेखक के ये विचार हैं। यही कारण है कि उसके किसी भी नाटक में 'कामिक' का ऐसा भद्दा रूप नहीं मिलता। लेखक का विचार सर्वथा उचित ज्ञात होता है। संघर्षपूर्ण जीवन में जहाँ नाना प्रकार की जटिलताएँ और विरोध

भरे हों हास्योद्रेक का अवसर आ ही नहीं सकता और यदि भाग्य से कहीं सुअवसर मिल ही गया तो कुछ क्षणों के लिए ही। इसलिए कहीं-कहीं नाटक के आधिकारिक वृत्त के प्रवाह के साथ-साथ नाटक के ही किसी हँसोड़ प्रकृति के पात्र के द्वारा हलकी सी हास्यवृत्ति का हलका सा स्फुरण दिखा देना ही अलम् समझा गया है। लेखक अपनी विचार-सीमा के बाहर कहीं गया ही नहीं। दृश्य का दृश्य भी हँसी-मज़ाक से पूर्ण नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा भी नहीं होता कि सामाजिक अथवा पाठक की गंभीर विचार-धारा उससे प्रभावित हुई हो। प्राचीन नाटकों के विदूषकों की ही भाँति 'प्रसाद' ने कहीं तो पृथक् पात्र की योजना कर दी है—जैसे, वसंतक, मुद्गल इत्यादि; और कहीं नाटक के ही पात्रों को परिहास-प्रिय बनाकर काम निकाल लिया है—जैसे, महापिंगल, काश्यप, मधुकर इत्यादि। इन पात्रों के व्यापार या वचनों से कहीं भी खुलकर हँसी नहीं आती। थोड़ी मुस्कुराहट तक ही हास्य बढ़ पाता है। 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में तो कार्य-धारा इतनी वेगपूर्ण है कि उतने भी हास-परिहास का अवसर नहीं मिल सका है। इस विनोदभाव के कारण कोई खटकने-वाली बात नहीं मिलती।

प्रेम-सिद्धांत

अनुरागोदय के भी भिन्न-भिन्न प्रकार 'प्रसाद' ने अंकित किए हैं। ऐसे दो स्त्री और पुरुष-पात्रों को जिन्हें आगे चलकर प्रेमी-युगल बनाना अभिप्रेत होता है वे प्रथम दर्शन में आकृष्ट दिखा दिए गए हैं। इस प्रकार के अनुरागोदय का फल मंगलमय और अमंगलमय दोनों दिखाई पड़ता है। विशाख, चंद्रलेखा पर प्रथम दर्शन ही में अनुरक्त हो गया है और फिर वह प्रेमाकर्षण अनेक स्थितियों से होता हुआ विवाह रूप में परिणत हो गया है। इसी प्रकार चंद्रगुप्त और कार्नेलिया, अजात और बाजिरा, जनमेजय और मणिमाला, सिंहरण और अलका तथा चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रेम का आरंभ भी प्रथम दर्शन में

ही हुआ है और सबका फल मंगलमय दिखाया गया है। परंतु स्कंद-गुप्त और विजया में मल्लिका और विरुद्धक में यह प्रेमोदय विफल हो गया है। विजया और विरुद्धक के चरित्र इसमें कारण माने जायँगे। चंचल स्वभाव की नारी विजया और उच्छृंखल प्रकृति का विरुद्धक एकनिष्ठ हो ही नहीं सकते, प्रेम के क्षेत्र में भी वही चारित्र्य-दोष विफलता का कारण बन जाता है। इस विषय में लेखक इसी विचार का दिखाई पड़ता है; यदि चरित्र शुद्ध हो, वासना की प्रबलता न समाई हो और पूर्वसंस्कारों की आध्यात्मिक प्रेरणा हो तो प्रथम दर्शन मे उत्पन्न प्रम अवश्य मंगलमय और चिरस्थायी होगा। 'एक घूंट' के आनंद, वनलता और प्रेमलता के विवाद से इसी पद्धति का पोषण होता है।

कहीं कहीं बाल साहचर्य एवं व्यक्तित्व के साथ गुण-दर्शन से प्रेम का आरंभ भी दिखाया गया है—जैसे, स्कंदगुप्त और देवसेना, चंद्रगुप्त और कल्याणी इत्यादि मे। इस प्रकार के प्रेम का विकास और फल अवश्य ही श्रेष्ठ होता है। भले ही देवसेना और कल्याणी को ऐहिक सफलता न प्राप्त हो सकी हो परतु त्याग, संतोष और विश्वास के अमृत पीकर इन्होने अमर प्रेम-फल की प्राप्ति की है, इसमें वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेम की प्रथम पद्धति ही लेखक को मान्य मालूम पड़ती है, पर उसमें भी दो वर्ग हैं। एक में केवल रूप-सौंदर्य कारण है—जैसे, विशाख और चद्रलेखा तथा जन-मेजय और मणिमाला में और दूसरे में गुणोत्कर्ष भी संमिलित है—जैसे, चंद्रगुप्त-कार्नेलिया, सिहरण-अलका और चंद्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी में। दूसरे प्रकार में अधिक आधार रहने से वह कुछ अधिक महत्त्व-पूर्ण ज्ञात होता है। लेखक की रुचि इस प्रकार के प्रेम-विकास की ओर अधिक दिखाई पड़ती है।

———

देश-काल

साधारण

'प्रसाद' के नाटक भारतीय इतिहास के उस अध्याय को लेकर चले हैं जो अपनी सर्वतोमुखी संपन्नता के कारण स्वर्णयुग कहलाता है। जनमेजय पारीक्षित से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन तक का काल भारतीयों के राजनीतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक और धार्मिक उत्कर्ष की परम सीमा का है। अतएव उन नाटकों में उन विषयों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यह चित्रण दो प्रकार से किया गया है—व्यक्त रूप में और प्रच्छन्न रूप में। व्यक्त रूप वह है जहाँ इन विषयों का स्पष्ट और सीधा उल्लेख है, जैसे किसी नाटक में यदि ऐसी स्थिति दिखाई जाय कि एक ही अथवा भिन्न-भिन्न धर्म के लोग आपस में झगड़ रहे हैं और इस प्रकार का विरोध तत्कालीन वस्तु-स्थिति पर प्रभाव डालता दिखाई पड़ रहा है तो कहा जायगा कि नाटक में इसका स्पष्ट उल्लेख है। यदि दो धर्मों अथवा संप्रदायों के विचार से प्रभावित पात्रों के द्वारा कुछ ऐसे व्यापार होते दिखाए जायँ जिनसे एक का अथवा दूसरे का समर्थन होता हो तो बात वही होगी पर इस ढंग का कथन अथवा चित्रण प्रच्छन्न कहा जायगा।

जहाँ उन विविध विषयों की सामूहिक एकात्मकता होती है वह है संस्कृति। राष्ट्र अथवा देश की इसी सामूहिक चेतना को संस्कृति कहते हैं। अतएव संस्कृति-विवेचना का तात्पर्य यही होता है कि किसी देश की राजनीतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक-

स्थितियों और प्रवृत्तियों के पूरे उद्घाटन से उसका परिचय मिल जाय। इस सांस्कृतिक परिचय का सर्वोत्तम और व्यावहारिक रूप यह होता है कि तत्कालीन मनुष्यों का परिचय दिया जाय और उनके द्वारा संपादित कुछ कार्य-व्यापारों का ऐसा दिग्दर्शन करा दिया जाय जिससे उनकी मौलिक प्रवृत्तियों का अभास मिल सके। इस विषय का सम्यक् और स्पष्ट उल्लेख तो इतिहास में ही संभव है, परंतु काव्य, नाटक और अन्य प्रकार की कला-कृतियों में भी इनका प्रच्छन्न चित्रण अथवा आभास मिलता है। इन काव्यात्मक रचनाओं की शैली के अनुसार कहीं सविस्तर चित्रण संभव होता है और कहीं संक्षिप्त। उसमें भी व्यक्त अथवा प्रच्छन्न निर्देश पर्याप्त होता है। उपन्यास का वस्तु विस्तार अपरमित होता है और उसमें लेखक का व्यक्तित्व सर्वथा प्रकाशित रहता है अतएव वहाँ विविध विषय का विस्तार संभव है, परंतु नाटक में रचना-पद्धति की प्रतिकूलता के कारण वह सर्वथा नियंत्रित रहता है। उदाहरण रूप में राखालदास बैनर्जी का 'करुणा' उपन्यास और 'प्रसाद' का 'स्कंदगुप्त' अथवा 'ध्रुवा' और ध्रुवस्वामिनी को लिया जा सकता है। दोनों रचनाओं की कथा प्रायः समान है पर उपन्यास में जिन विषयों का भव्य विस्तार मिलता है, नाटक में उन्हीं विषयों का लघु संकेत हुआ है। नाटकों की रचना-पद्धति ऐसी है जिसके अनुसार इतना ही संभव और यथेष्ट है कि इन विविध विषयों का कहीं स्पष्ट और कहीं प्रच्छन्न कथन हो जाय। 'प्रसाद' के नाटकों में विषय कालानुकूल वस्तु-स्थिति और अन्य विषयों का यथेष्ट संकेत मिलता है।

कालानुरूप चरित्रांकन

देश-काल का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व मानव-समाज में अभिव्यक्त होता है और 'प्रसाद' की मानव-मंडली विशिष्ट प्रकार की है। नाटकों के ऐतिहासिक होने के कारण उनके पात्र अधिकांश तो राजवर्ग के हैं और कुछ साधारण श्रेणी के, इसलिए उनका चरित्रांकन प्रायः वर्गगत हुआ है—आदर्श और यथार्थ के विचार से, अमीर और गरीब के

विचार से। ये गरीब भी साधारण जनता के सुख-दुःख के बीच रहने-वाले नहीं हैं, उनका संबंध भी किसी न किसी प्रकार राजभवन से ही स्थापित हो जाता है। सुरमा ऐसी मालिन भी देवगुप्त की रानी बन जाती है। ऐसी अवस्था में यही कहना चाहिए कि 'प्रसाद' का मानव-समाज राजवर्गीय है और इस वर्ग में अच्छे से अच्छे बुरे से बुरे लोग दिखाई पड़ते हैं। यह स्थिति आज की नहीं है उसका यही सनातन रूप है। आपस का भेद-भाव, दुरभिसंधि, नाना प्रकार के कुचक्र जैसे आजकल राजवर्ग में मिलते हैं वैसे ही प्राचीन काल में भी थे।

जिन विशिष्ट पुरुषों को लेकर इतिहास की रचना हुई है उन्हीं को अपना नायक बनाकर 'प्रसाद' ने भी नाटक लिखे हैं। वे महापुरुष महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित ही न रहते, यदि उनमें चरित्र और कर्म की भव्यता न होती। इसलिए उनका चरित्र उदात्त और व्यक्तित्व महान् दिखाई पड़ता है। इतिहास के महापुरुष या तो ऐसे हैं जिन्होंने अपने समाज के कल्याण के लिए तपस्या की है अथवा अपने साम्राज्य-संगठन में पराक्रम का कार्य किया है। दूसरे प्रकार के लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे नाना प्रकार के राजनीतिक व्यापारों में संलग्न रहें, युद्ध, विद्रोह, क्रांति, षड्यंत्र इत्यादि का सामना करें, अपने चरित्र-बल से इन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का अतिक्रमण करके राष्ट्र और समाज के धर्म, धन, जन और संमान की रक्षा करें। इन नाटकों में दूसरे प्रकार के ही महापुरुषों का वृत्त मिलता है। प्रसंगवश प्रथम कोटि के पात्र भी दिखाई पड़ते हैं—जैसे, बुद्ध, व्यास, चाणक्य इत्यादि, पर वे केवल योगवाही मात्र हैं।

जनमेजय वीर प्रकृति का था। बर्बर जाति से उसका पैत्रिक विरोध था। साम्राज्य को उनके आतंक से बचाना आवश्यक हो गया था। इसलिए युद्ध करके जनमेजय ने उन्हें उच्छिन्न कर डाला। राज्य के भीतर ब्राह्मणों का विद्रोह चल रहा था। उसने उसके दबाने में भी निर्भीक तत्परता दिखाई। अंत में श्रेष्ठ शासक की भाँति सबको क्षमा कर राजपद की मर्यादा दृढ़ की। अपने उदात्त चरित्र के आधार पर

जनमेजय ने शांति, न्याय और सुव्यवस्था की जड़ जमाई। उस समय की जैसी अवस्था थी उसी के अनुरूप उसमें योग्यता भी दिखाई पड़ी। अजातशत्रु बौद्धकाल का प्रतिनिधि था। उस समय एकछत्र राज्य का अभाव था। मांडलिक शासकों में कौटुंबिक संबंध होने पर भी किसी न किसी कारण युद्ध होता ही रहता था। अजातशत्रु स्वभाव और चरित्र से उद्धत और उग्र था, इसलिए तत्कालीन शासक-मंडली में उसने राजनीतिक विप्लव उत्पन्न कर दिया था, परंतु बुद्ध के विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण पुनः एक बार शांति उत्पन्न हो गई थी। उस काल के पात्रों में बुद्ध-धर्म का प्रभाव व्याप्त था, बिंबसार, प्रसेनजित्, अजातशत्रु, उदयन इत्यादि का आचरण बुद्ध धर्म से नियंत्रित था। इसी प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य में अपनी समकालीन वस्तु-स्थिति से युद्ध करने का पुरुपार्थ था। उसकी व्यवहार-कुशलता तथा अन्य पुरुषोचित गुण उस काल की स्थिति के अनुरूप ही थे। अन्य नाटकों में भी काल की आवश्यकताओं के अनुसार ही प्रधान एवं सहायक पात्रों में गुणों का योग था। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस काल के व्यक्तियों का स्वरूप 'प्रसाद' ने अंकित किया है उनमें उस काल की छाप है। इतिहास का वह काल हिंदू संस्कृति का आदर्श काल है अतएव पात्रों में भी आदर्श गुणों का योग दिखाया गया है। राम के राज्य में भी रावण था, अत्याचार, अन्याय और पाप था, उसी प्रकार उस आदर्श काल में भी दोप थे और यथास्थान 'प्रसाद' ने उसका चित्रण किया है।

राजनीतिक स्थिति

प्रत्येक नाटक में अपने समय की यथार्थ राजनीतिक स्थिति का आभास दिया गया है। जनमेजय के समय में किस प्रकार नाग जाति विद्रोह मचा रही थी और ब्राह्मण-दल कैसा विद्रोह कर रहा था इसका चित्रण विस्तार से मिलता है। बुद्ध-काल की राजनीतिक स्थिति भिन्न प्रकार की है। एकछत्र शासन के अभाव में बहुत से मांडलिक शासकों की स्थिति-सत्ता दिखाई पड़ती है। इनमें प्रायः कौटुंबिक-

संबंध है, फिर भी कभी-कभी किसी कारण से आपस में युद्ध हो जाता है। एक विशेषता यह भी मिलती है कि एक व्यक्ति ऐसा है जिसका प्रभाव सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है और वह व्यक्ति है गौतम बुद्ध। यों तो बुद्ध के विरोधी भी दिखाई पड़ते हैं, परंतु उनके सद्धर्म का अखंड प्रभुत्व मिलता है—आचरण में, व्यवहार में और नित्य के जीवन में राजनीति पर भी धर्म का इतना प्रभाव उस समय की अपनी विशेषता है। मौर्य काल में आकर विदेशियों के आक्रमण होने लगते है। सिकंदर का धावा होता है, फिर उसके सेनापति सिल्यूकस का अभियान दिखाई पड़ता है। इतने थोड़े-थोड़े समय में जो विदेशियों की चढ़ाई होती रहती है उसका कारण है भारतवासियों की अपनी फूट; सिकंदर की चढ़ाई के समय में ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि सीमाप्रांत के गण-राज्यों में कितनी फूट थी। एक दूसरे की सहायता के लिए कोई तत्पर नहीं था। आपस में ही एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। पर्वतेश्वर का विरोध गांधार नरेश भी कर रहा था और मगध का शासक नंद भी। अन्य गणतंत्र भी पृथक् पृथक् युद्ध करते थे, परंतु मिलकर संभव-समुत्थान के लिए कोई अग्रसर नहीं था। दूसरी ओर मगध-शासन की व्यवस्था भी तट-द्रुम की भाँति मृत्यु-मुख में प्रवेश के लिए खड़ी थी। गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के काल में भी शकों का विरोध मिलता है। स्कंदगुप्त के राज्यकाल में आकर स्थिति और भी भयावह होती जा रही थी। पुष्यमित्रों का आक्रमण एक ओर और पुरगुप्त के कारण कौटुंबिक विद्रोह दूसरी ओर। पुष्यमित्रों को पराजित करते ही हूणों का पुनः आक्रमण। इस प्रकार एक के उपरांत दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा आक्रमण होता ही चलता था। निरंतर आक्रमणों के कारण सारी व्यवस्था उखड़ने लगी और गुप्तसाम्राज्य दुर्बल होने लगा। गुप्तों के उपरांत विदेशियों का प्राधान्य बढ़ गया, परंतु हर्षवर्धन के समय में आकर फिर एक बार साम्राज्य-स्थापन की चेष्टा की गई। मालव-शासक ने कन्नौज के ग्रहवर्मा को मार डाला। इस पर हर्षवर्धन ने उसका

प्रतिकार किया और मालव में विजय प्राप्त कर ली। वह दक्षिण की ओर भी बढ़ा, परंतु पुलकेशिन् के विरोध के कारण उसे रुक जाना पड़ा। इस प्रकार यदि संपूर्ण नाटकों में वर्णित राजनीतिक स्थिति को एक क्रम में रख दें तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार आर्य जाति अपने राजनीतिक अभ्युत्थान के लिए निरंतर उद्योगशील बनी रही।

धार्मिक स्थिति

भारतयुद्ध के उपरांत भी यज्ञादि वैदिक क्रियाओं का संमान पूर्ववत् बना रहा परंतु जनमेजय और उसके पुरोहितों में कुछ अनबन होने के कारण ब्राह्मण-वर्ग कुछ असंतुष्ट हो गया। जनमेजय के ऐंद्र महाभिषेक और अश्वमेध-यज्ञ में भिन्न-भिन्न पुरोहित काम करते दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट मालूम होता है कि कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण राजा के पक्ष में और कुछ विपक्ष में थे। विपक्षियों के नेता काश्यप ने तक्षक (नाग) से मिलकर राजकुल के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न किया। जनमेजय के समय में क्षत्रिय-ब्राह्मण और ब्राह्मण-ब्राह्मण का संघर्ष चला। अजातशत्रु के शासन-काल में बौद्ध धर्म का प्राधान्य था। यों तो उस समय भी बुद्ध के शत्रु देवदत्त ऐसे लोग थे पर राजकुल से लेकर एक साधारण झोपड़ी तक बौद्ध धर्म की महिमा फैली थी। उस समय सभी लोग बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। मौर्यकाल में आकर बौद्ध धर्म का एकछत्रत्व मिट गया। पुनः वैदिकों का दल उठ खड़ा हुआ। वैदिक मत के प्रसार में तक्षशिला के गुरुकुल का विशेष हाथ रहा। मगध के शासन में कभी बौद्धों की प्रधानता और कभी वैदिकों का अनुशासन दिखाई पड़ा, जैसा कि एक स्नातक कहता है—'वह सिद्धांत-विहीन नृशंस (नंद) कभी बौद्धों का पक्षपाती कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है'। चाणक्य भी राक्षस को इसी आधार पर फटकारता है। बौद्ध-वैदिक-संघर्ष से पृथक् साधु-महात्माओं में तपश्चर्या प्रचलित थी और लोग उन पर विश्वास

करके उनका संमान करते थे। गुप्तवंशीय सम्राट् चंद्रगुप्त के समय में विवाह-बंधन का समाज में पूर्ण संमान था। धर्म के क्षेत्र में पुरोहित एवं धर्माचार्य की व्यवस्था मान्य रहती थी। गुप्त सम्राटों में शैव मत के प्रति अधिक श्रद्धा देखकर बौद्ध धर्मानुयायी कुछ क्षुब्ध होने लगे थे। यही कारण है कि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में पुराने बौद्ध-वैदिक-संघर्ष का पुनः प्रवेश हो गया था और ब्राह्मण-श्रमणों में फिर खींचतान दिखाई पड़ने लगी थी। साथ ही बौद्धों में तांत्रिकों का प्राधान्य हो गया था। आगे चलकर हर्षवर्धन के राज्यकाल में एक बार फिर बौद्धों की प्रबलता हुई इसका कारण राजकीय प्रभाव था। इस प्रकार ब्राह्मण-काल से लेकर बौद्ध-काल तक धर्म के क्षेत्र में भी संघर्ष ही चलता रहा।

सामाजिक स्थिति

प्राचीन काल के समाज-संगठन में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुरुषों की समता में उनका समान संमान होता था। राजसभाओं में राजाओं के साथ रानियाँ भी आदरपूर्वक बैठती थीं। जीवन की नाना स्थितियों में उनका योग रहता था। आमोद में तो वे साथ रहती ही थीं, युद्ध ऐसे संकट-काल में भी उनकी सहायता प्राप्त होती थी। आवश्यकतानुसार वे पुरुष-वेश धारण कर लेती थीं। [illegible], मणिमाला और ध्रुवस्वामिनी ने भी ऐसा किया था। ऐसी [illegible] में अपूर्व पौरुष भरा रहता था। जहाँ एक ओर पुरुष युद्ध [illegible]ने में संलग्न रहते थे वहाँ आहतों की सेवा-शुश्रूषा का दायित्व प्रायः [illegible] के ऊपर छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार की स्थिति भारत-युद्धोत्तर काल से लेकर हर्षवर्धन-काल तक एक समान थी। स्त्रियों का अर्धांगिनी-पद व्यवहार में भी चरितार्थ था। राजनीतिक व्यवहार में भी उनके विचार मान्य होते थे। उस काल में उनकी स्वतंत्रता किसी प्रकार बाधित नहीं थी। वपुष्टमा, छलना, कल्याणी, अलका, ध्रुव-

स्वामिनी, अनंतदेवी, जयमाला और राज्यश्री आदि महिलाएँ, उस काल का आदर्श संमुख रखने के लिए, आज भी यथेष्ट हैं।

आर्य संस्कृति के प्रधान निर्माता ब्राह्मण थे। जनमेजय-काल में इनका बड़ा संमान था क्योंकि उस समय भी यज्ञादि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृत्यों के आचार्य और मंत्रदाता ब्राह्मण ही थे। राजवर्ग और प्रजाजन के कल्याणार्थ ही वैदिक कर्मकांड चलता था, और उसका नियामक था ब्राह्मण-वर्ग। इसीलिए ये ब्राह्मण शिरःस्थानीय माने जाते थे। यों कभी-कभी उन्नत और क्रोधी प्रकृति के भी ब्राह्मण निकल आते थे जिनमें दुरभिसंधि और कुचक्र चालन के दोष भी दिखाई पड़ जाते थे, परंतु अधिकतर ब्राह्मण सात्त्विक वृत्ति के ही होते थे, जो अरण्यों में एकांतवास करते, तपश्चर्या, अग्निहोत्र इत्यादि कर्मों में निरत रहकर दया, उदारता, शील, आर्जव और सत्य का अनुसरण करते थे। आगे चलकर न तो ब्राह्मणों की यह वृत्ति ही रह गई और न उनका वह संमान ही रह सका। मौर्यकाल में अन्य प्रतिद्वंद्वी धर्मों के कारण इनका महत्त्व और भी गिर गया। यही अवस्था हर्ष के समय तक चली आई।

शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन-अध्यापन का अच्छा प्रबंध था। इस प्रबंध में राजवर्ग की उदारता बड़ा काम करती थी। छात्रवृत्तियाँ देकर विद्यार्थियों को राजा भेजता था और विद्याध्ययन करके लौटे हुए स्नातकों को आदरपूर्वक स्वीकार करता था। स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त केंद्रीय विश्वविद्यालय—गुरुकुल—होते थे, जहाँ दूर दूर से आए विद्यार्थी कम से कम पाँच वर्षों तक रहकर अध्ययन करते थे। राजाओं का आदर और सहायता प्राप्त होने पर भी इन गुरुकुलों में राजा का शासन नहीं चलता था। ये विद्याकेंद्र अपने कुलपति के ही नियंत्रण से परिचालित होते थे। इनमें भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा का प्रबंध रहता था। विद्यार्थी अपनी आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार विषय स्वीकार कर लेता था। छोटे-बड़े, धनिक-निधन इत्यादि सामाजिक वैषम्य का यहाँ प्रवेश नहीं था। कुछ विद्यार्थी जो निश्चित द्रव्य

लेकर आते, अध्ययन समाप्त कर चले जाते थे और यदि कोई दक्षिणा न दे पाता तो गुरुकुल की सेवा करके अपना ऋण चुका देता था। विद्यार्थियों में जो मेधावी और योग्य दिखाई पड़ता उसे अध्यापन-कार्य भी सौंपा जाता था।

राजवर्ग के आमोद-प्रमोद का रूप बँधा हुआ था। नर्तकियों और गायिकाओं का प्रचार जनमेजय के समय में भी था, साथ ही साधारण लोगों में मद्य का प्रयोग भी दिखाई पड़ता था। नृत्य और मदिरा का प्रयोग सब राजसभाओं में चलता था। नंद, कुमारगुप्त, उदयन और देवगुप्त के यहाँ भी इनका प्रचार था। कुमारगुप्त के यहाँ पारसीक नर्तकियों का भी प्रवेश था। नंद, कुमारगुप्त और रामगुप्त आदि तो भारी मद्यप थे ही। राजाओं में आखेट का भी प्रचलन था। जनमेजय से लेकर ग्रहवर्मा तक इसका उल्लेख प्राप्त है। कहीं-कहीं वन्य पशुओं के पालन का शौक था—अजातशत्रु और नंद के यहाँ चीते पले थे और राज-वाटिका की शोभा बढ़ाते थे।

साहित्य का उल्लेख

अध्ययन-अध्यापन की सुव्यवस्था के कारण उस समय साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई थी। अजातशत्रु नाटक का जीवक वैद्य धन्वंतरि और महर्षि अग्निवेश का उपासक था। चाणक्य अर्थशास्त्र का प्रणेता था, वररुचि वार्तिककार था और पाणिनि के व्याकरण का पूरा जानकार था। कार्नेलिया सुकरात के ग्रंथों के अतिरिक्त राक्षस से उशना तथा कुणिक की राजनीति का अध्ययन करती थी। वात्स्यायन उसे रामायण भी पढ़ाया करता था। धातुसेन ने व्यंग्य के साथ चाणक्य और उसके ग्रंथ अर्थशास्त्र का उल्लेख किया था। इस प्रकार के अनेक अवसरों पर किए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि साहित्य की उस समय प्रचुर चर्चा थी। स्कंदगुप्त के काल में कुमार कवि धातुसेन, मातृगुप्त प्रभृति कवियों के उल्लेख प्राप्त ही हैं।

अन्य-विषय

गान

भारत के प्राचीन नाटकों में गान-वाद्य के प्रसंग अवश्य आए हैं, परंतु आधुनिक नाटकों की भाँति उनमें अधिक गानों का प्रयोग नहीं किया गया है। वर्तमान नाटककारों की यह प्रवृत्ति पारसी नाटकों का अनुकरण है। यदि इनका स्थल-विशेष पर उचित व्यवहार किया जाय तो उतना भद्दा न लगे। अथवा यदि ऐसा कोई पात्र अंकित किया जाय जिसमें संगीत की सहज प्रवृत्ति और अभिरुचि हो—जैसे 'स्कंदगुप्त' की देवसेना—तो भी कहीं-कहीं पर गाना अनुचित न मालूम पड़े! कभी-कभी राजसभाओं में इसकी आवश्यकता हो सकती है, जहाँ शोभार्थ नर्तकियाँ या गायिकाएँ रहती हैं। ऐसे भी पात्र नाट्य-प्रसंग में आ सकते हैं, जिनकी जीविका संगीत है—जैसे, मागंधी और सुवासिनी। इसकी गान-प्रियता स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त गान का प्रयोग अस्वाभाविक ज्ञात होता है। पारसी ढंग पर लिखे गए नाटकों का उस समय बोलबाला दिखाई पड़ता है, जब 'प्रसाद' नाटककार के रूप में उपस्थित होते हैं। सब प्रकार की भारतीय परिपाटी का अनुसरण करने पर भी 'प्रसाद' इस नवीनता को स्वीकार कर ही लेते हैं; क्योंकि भावुक कवि-हृदय मचलता है और इसको स्वीकार करने में एक प्रकार की संतुष्टि का अनुभव करता है। रूपक-रचना के बीच में जहाँ कहीं अवसर मिला वहाँ अपनी भावुकता से प्रेरित कविताओं के प्रवेश का यह सरल द्वार

उनके लिए खुल पड़ा और 'प्रसाद' अतिरेक से न वच सके।

'राज्यश्री' और 'विशाख' तक तो यह कुछ परिमित दिखाई पड़ता है परंतु आगे चलकर इसका प्रसार वहुत वढ़ गया है। फिर तो दशा यह दिखाई पड़ती है कि नाटक के सभी स्त्री-पात्र गान प्रिय हो उठते हैं—जैसे 'चंद्रगुप्त' में कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका और सुवासिनी सभी गाती हैं और इतना अधिक गाती हैं कि संगीत भी अप्रिय हो जाता है। चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में मालविका तीन वार गाती है। इन तीनों गानों में चालीस मिनट से कम नहीं लगेंगे। रंगमंच के विचार को छोड़कर भी यह स्थिति वुद्धिग्राह्य नहीं—कला-कौशल के विचार की तो वात ही दूर है। इसके अतिरिक्त एक पात्र चाहे वह कितना भी गानप्रिय क्यों न हो, यदि मात्रा से वहुत अधिक गाता है तो अप्रिय हो जाता है। 'स्कंदगुप्त' नाटक की देवसेना और 'अजातशत्रु' की मागंधी सात-सात वार गाती हैं, और वह भी दो-दो, चार-चार कड़ियाँ नहीं, बड़े लंवे-लंवे गाने। 'प्रसाद' के गाने प्रायः वड़े हैं। इसका कारण है उनकी काव्य-प्रियता। व्यवहार-दृष्टि से विचार किया जाय तो ये गान रंगमंच पर वड़े अनुपयुक्त मालूम पड़ेंगे। कहीं कहीं एक और भद्दापन पैदा हो गया है, नेपथ्य से लंवे गाने गवाए गए हैं, जो नितांत अव्यावहारिक है। अवश्य ही ये गाने भावपूर्ण एवं काव्यात्मक हैं और समझदारों को वहुत मधुर मालूम पड़ सकते हैं, परंतु वस्तु की उपादेयता के प्रतिकूल हैं। इन प्रतिकूल गानों की झड़ी में कहीं-कहीं आवश्यक गाने भी दिखाई पड़ते हैं। उचित स्थल पर, उचित मात्रा में, उचित व्यक्ति के द्वारा भी कुछ गाने गाए गए हैं—जैसे, देवसेना, सुरमा और कल्याणी के कुछ गाने, या जैसे—'स्कंदगुप्त' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ४५, ५४, ६६; 'राज्यश्री' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६८, [illegible] ३६ के गाने। स्थल और विपय की संगति के आधार पर 'प्रसाद' के गाने अवश्य ही साभिप्राय दिखाई पड़ते हैं और अधिक गाने ऐसे हैं जिनके विपय नाटक की कथा के मेल में हैं।

'प्रसाद' के अधिकांश नाटक रंगमंच के विचार से दोषपूर्ण और अव्यावहारिक हैं—इस कथन के दो पक्ष हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो इस आक्षेप के अनुकूल हैं और बहुत सी प्रतिकूल हैं। इस प्रतिकूलानुकूलत्व का विचार पीछे के लिए छोड़ा जाता है। सर्वप्रथम लेखक का व्यक्तिगत विचार कह देना आवश्यक है। प्रसंगानुसार इस प्रबंध के लेखक से उसने कई बार कहा है*—'मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तौली जानी चाहिए। मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंचेवाले और दूकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तररामचरित', 'शकुंतला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते और न जनसाधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते। उनकी काव्य-प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-संपन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं'।

उक्त आक्षेप के अनुकूल पाँच बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो यह है कि नाटक बहुत बड़े हैं। इनके लिए पाँच-छः घंटे भी यथेष्ट नहीं हैं। दूसरी बात विस्तृत कथोपकथनों की है। इतने बड़े-बड़े स्वगत-भाषण और संवाद, प्रयोग के विचार से ठीक नहीं जँचते, क्योंकि बल और स्फूर्ति की समता का इतना निर्वाह अभिनेताओं में नहीं हो सकता। तीसरी बात गानों के संबंध में है इतने अधिक और इतने लंबे गाने बहुत समय लेते हैं और विरक्ति-उत्पादक बन जाते हैं, चौथी बात काव्य-तत्त्व की प्रचुरता है; जिसके कारण भावों का संवेदन कम हो

* यह स्मृति के आधार पर संचित अभिप्राय मात्र है।

जाता है और सामाजिक रसास्वादन में असमर्थ रह जाते है। पाँचवीं बात रंगमंच की पद्धति से संबद्ध है। 'प्रसाद' के रूपकों में दृश्यों का विभाजन दोषपूर्ण है। रंगमंच का विस्तार परिमित होता है। इसी में सब प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था करनी होती है। यदि दृश्य-विभाजन का यह क्रम हो कि दो दृश्य आगे-पीछे ऐसे रख दिए जायँ जिनमें स्थान और सज्जा अधिक अपेक्षित हो तो रंगमंच का प्रबंध बिगड़ जायगा। यदि शैल-कानन-स्थानीय गुरुकुल और राजसभा के दृश्य आगे-पीछे रख दिए जायँ तो या तो पहले दृश्य को संकुचित करना पड़ेगा अथवा दूसरे को। अभीष्ट विस्तार के साथ दोनों दृश्य नहीं दिखाए जा सकते। समय की कमी और रंगमंच की परिमिति इसका विरोध करती है। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में इसका कम विचार रखा है। उदाहरण रूप में दो-एक स्थल देखे जा सकते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' के द्वितीय अंक के प्रथम दोनों दृश्य आगे पीछे यथाक्रम दिखाए जा सकते हैं, क्योंकि तपोवन की सजावट हटा दी जा सकती है जब तक आगेवाला पथ का दृश्य चलता रहता है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के प्रथम दोनों दृश्य यथाक्रम चल सकते है, क्योकि तीन फुट का विस्तार लेकर जब तक द्वितीय दृश्य में पथ का विषय चलता रहता है तब तक प्रथम दृश्य की राजसभा की सजावट हटा दी जा सकती है। परंतु 'चंद्रगुप्त' के प्रथम दोनों दृश्य यथाक्रम उपस्थित करने में बड़ी कठिनाई होगी। पहला दृश्य है तक्षशिला का गुरुकुल, जिसमें प्राकृतिक वैभव के बीच अधिष्ठित संसार प्रसिद्ध विद्याकेंद्र के स्वरूप का यथेष्ट बोध कराना आवश्यक है। द्वितीय दृश्य है मगध-सम्राट् का विलास-कानन, जिसमें विलासी, युवक और युवतियों के दल विहार कर रहे हैं। इतने वर्णन से ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि दोनों दृश्यों का क्या विस्तार है और दोनों के लिए कितना स्थान अपेक्षित होगा। इसी प्रकार के दृश्य-क्रम अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ते है। 'प्रसाद' को रंगमंच-व्यवस्था का व्यावहारिक ज्ञान नहीं था, अन्यथा ऐसा क्रम न रखा जाता।

उक्त आक्षेप के विरुद्ध भी अनेक ऐसे तर्क हैं जिनके आधार पर ये नाटक रंगमंच के अनुकूल प्रतीत होते हैं। ऊपर गिनाए हुए सब दोषों का परिहार कर लिया जा सकता है, जैसा कि काशी की कई नाटक-मंडलियों ने लेखक के जीवन-काल में ही किया था। वस्तु-विस्तार कम हो सकता है, संवाद भी लघु कर लिए जा सकते हैं, गान की दो-एक कड़ियाँ गाई जा सकती हैं, काव्यात्मक स्थल या तो हटाए जा सकते हैं या भाषा की अभिव्यंजना व्यावहारिक कर दी जा सकती है और दृश्य-विभाजन का क्रम अपनी आवश्यकता के अनुकूल कर लिया जा सकता है। इतना परिवर्तन इसलिए अपेक्षित होगा कि रंगमंच पर उन नाटकों को ले आना है जो वस्तुतः उत्तम नाट्य-काव्य हैं और मूलतः व्यावहारिक अभिनय के लिए ही नहीं लिखे गए हैं। इसके अतिरिक्त परिष्कृत बुद्धि और साहित्यिक अभिरुचि के अभिनेता और सामाजिक भी अपेक्षित होंगे अन्यथा अंतर्द्वंद्व-प्रधान पात्रों का स्वरूप-गांभीर्य अथवा परिष्कृत भाषामय संवादों का अर्थ ही समझ में न आएगा। इस प्रकार नाटक की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए भी उसके बाह्य स्थूल शरीर में अवसर और क्षमता के अनुकूल परिवर्तन करके भी रस का पूर्ण आस्वादन किया जा सकता है।

इन आक्षेपों के विरुद्ध, 'प्रसाद' के नाटकों में रंगमंच के अनुकूल अनेक गुण भी हैं। प्रमुख विशेषता है क्रिया-व्यापार का वेग जो सभी प्रधान नाटकों में समान रूप से व्याप्त दिखाई पड़ता है। 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में यह विशेषता अधिक सुंदर रूप में आ सकी है। इनमें भी प्रथम दो में तो कुछ बाधक बातें भी मिलती हैं, परंतु तृतीय तो सर्वथा निर्दोष है। इस नाटक की रचना-प्रणाली रंगमच के अनुकूल रखी गई है, अतएव उस दृष्टि से यह कृति सर्वगुणसंपन्न है। 'प्रसाद' ने अपने सभी नाटकों में प्रथम और अंतिम दृश्यों को बड़ा ही रोचक और आकर्षक बनाया है। यह अभिनय के विचार से एक आवश्यक बात है। इसके साथ ही समय-समय पर भव्य व्यापारों के साथ मनोहर पूर्व-पीठिका का जो

योग कराया है उससे दृश्यों में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और आकर्षण उखड़ने नहीं पाता। कहीं-कहीं तो आकर्षण-पूर्ण दृश्यों की मालिका दिखाई पड़ती है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' के प्रायः संपूर्ण प्रथम अंक में और 'चंद्रगुप्त' के प्रथम अंक के दो-दो, एक-एक दृश्यों के अंतराल में आकर्षणपूर्ण दृश्यों का निरंतर योग मिलता चलता है। इसके अतिरिक्त शृंगार और वीररस-पूर्ण संवाद सभी नाटकों में मिलते हैं। वीर रस का सहायक शृंगार रस को बनाकर 'प्रसाद' ने यों ही प्ररोचना-विवर्धन की सामग्री एकत्र कर रखी है। वस्तु के सुसंविहित विकास-क्रम के कारण विषय और व्यक्ति के प्रभाव का जो उत्कर्ष होता चलता है वह अंत में जाकर ऐसा अन्वित हो जाता है कि सारा नाटक एक अखंड—पूर्ण मालूम होने लगता है। यह रसस्थिति अथवा प्रभावान्विति नाटक के प्राण-रूप में दिखाई पड़ती है। उसी प्रकार अभिनय में भी इसकी प्रधानता ही सब कुछ है। यह विशेषता 'प्रसाद' के सभी नाटकों में प्राप्त है। अतः इन नाटकों की अभिनेयता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। 'ध्रुवस्वामिनी' ऐसे पूर्ण अभिनेय रूपक के रचने की क्षमता जिसमें विद्यमान थी उसके यथार्थ नाटककार होने में किसी प्रकार का संशय करना निरापद है।

भाषा-शैली

अभिनेयता के समान ही 'प्रसाद' की नाटकीय भाषा-शैली भी विवादास्पद विषय है। इसमें पक्ष-विपक्ष के अपने-अपने भिन्न तर्क हैं जैसी व्यक्तिगत सफाई नाटककार ने अभिनेयता के विषय में दी है वैसी ही भाषा के विषय में भी उसके अपने विचार हैं। यदि कोई उसके सामने यह तर्क रखता कि—भिन्न-भिन्न देश के पात्रों का पंडितों की तरह संस्कृत बोलना बड़ा अयथार्थ और अव्यावहारिक मालूम, पड़ता है, अतएव जो जिस देश अथवा वर्ग का है उससे उसी के अनुरूप भाषा का प्रयोग कराना अधिक प्रकृत होगा। संस्कृत के प्राचीन नाटकों में प्राकृत का व्यवहार इसी पक्ष में व्यवस्था देता है—तो 'प्रसाद' अपने पक्ष के प्रतिपादन में यही कहा करते

थे—भिन्न-भिन्न देश और वर्गवालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषाओं का अजायब-घर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असंभव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की अधिक आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिंदी बोलते-समझते पाते हैं। जहाँ अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर हम इतने बड़े अभिनय को नकल और अभिनय न समझकर सच्ची घटना मानते हैं और उसी के साथ हँसते-रोते, सुख-दुःख करते हैं, वहाँ ऐसी बात यथार्थ है अथवा अयथार्थ इसके विचार का अवसर ही कहाँ रह जाता है। जब हम सिल्यूकस और कार्नेलिया को अपने संमुख खड़ा देखते हैं तब वे यथार्थ मालूम पड़ते हैं और जब वे परिष्कृत भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तब अयथार्थ हो जाते हैं यह भी कोई तर्क है। अतएव भाषा-विविधता के लिए आग्रह न करना ही हितकर है। स्वरूप-भिन्नत्व केवल वेष-भूषा से ही व्यक्त कर देना चाहिए *।

लेखक की सफाई के अतिरिक्त भी जनमेजय और चाणक्य की सम-सामयिक कथाओं में उसी प्रकार की भाषा-शैली उपयुक्त और प्रकृत मालूम पड़ती है जैसी इन नाटकों में प्राप्त है। हिंदुस्तानी की फुसलाहट और आजकल के राजनीतिक कुचक्रों में पड़कर भाषा का जो रूप विकृत हो रहा है उसका प्रयोग यदि इन नाटकों में हो तो संस्कृति और भारतीय आत्मा की हत्या निश्चित है। अतएव 'प्रसाद' की भाषा-शैली अपने स्थल पर सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि काल-साम्य का निर्वाह होना ही चाहिए। विचार केवल विदेशी पात्रों का करना है। फिर भी जिस वर्ग की बालिका, उशना और कुणिक की राजनीति तथा रामायण का अध्ययन करता है वह संस्कृत भाषा अवश्य समझ सकता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि 'प्रसाद' की भाषा-शैली

* इस विषय में भी मैंने प्रयत्न तो यही किया है कि 'प्रसाद' का व्यक्तिगत मंतव्य प्रकट करूँ। जहाँ तक मुझे स्मरण है 'प्रसाद' का सदैव यही तर्क रहा है।

अपने रूप में सर्वथा उपयुक्त है। जहाँ तक तत्सम शब्दों के बाहुल्य की बात है अथवा तत्कालीन प्रयुक्त पदावली का संबंध है वहाँ तक तो ठीक ही है। मतभेद केवल भाव-प्रधान और अलंकार-बहुल लंबे वाक्यों का है। इनके कारण संवाद की गति तो बाधित होती ही है शीघ्र अर्थ-बोध में भी व्याघात पड़ता है, जो कभी अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दो-चार उदाहरण यथेष्ट होंगे—'मुझे अपने मुखचंद्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतींद्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करनेवाले शरद्-चंद्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ और तुम्हारा सुरभि-निश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे', 'अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या को शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढक देती थी। उस मधुरिमा का, उस सौंदर्य का, उस अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर हमने हाथ बढ़ाया था, वहीं, वहीं, स्वप्न टूट गया'। इस प्रकार अनेकानेक कथनों से 'प्रसाद' के सभी नाटक भरे हैं। भाषा के इस रूप का प्रयोग नाटकों में नहीं होना चाहिए। गानों की तरह इस विषय में भी लेखक का कवि-हृदय मचलता रहता है। विदेशी पात्रों के मुख से इस पद्धति के संवाद नहीं कराए गए—यही अच्छा हुआ है, अन्यथा आक्षेप की मात्रा और अधिक हो जाती। सिकंदर के मुख से जो वाणी निकलती है उसमें उक्त पदावली का रूप नहीं रहता—'धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। आर्य! जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर, मैत्री के हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ'।

नाटकीय संवाद की भाषा-शैली कैसी होनी चाहिए इसका एक उदाहरण यह है—'भाई! अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया। राज्य किसी का नहीं है। सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट

चंद्रगुप्त तक इस महान् आर्य-साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतंत्रता के यज्ञ में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है; उसी की पूजा होगी। भाई ! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं, इसके लिए मर मिटो। फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इंद्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ की अप्सराएँ विजय-माल लेकर खड़ी होंगी। सूर्यमंडल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मंडित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा'। इस गद्यांश में प्रायः वे सभी विशेषताएँ उपस्थित हैं जो नाटक में आवश्यक हैं। भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। अतएव रसानुकूलत्व भाषा का उत्तम धर्म है। जिस रस का प्रसंग हो उसी के अनुरूप जब पदावली होगी तभी प्रभाव उत्तम पड़ेगा। उत्साह और आवेश में जैसा वेग होना चाहिए वैसा ही इस गद्यखंड में है। आवेश में कहने से वाक्य-योजना में जो हलका-सा उलट-फेर होना नितांत व्यावहारिक है वह भी यहाँ दिखाई पड़ता है। प्रभाव उत्पन्न करने के अभिप्राय से समानार्थी प्रसंग या बात प्रायः दुहराई जाती है; इसका स्वरूप भी इसमें मिल जाता है। इस प्रकार सभी आवश्यक नाटकीय गुण इस अवतरण में दिखाई पड़ जाते हैं। मुहावरेदानी ढूँढ़नेवालों को अवश्य ही यह भाषा भी प्रसन्न नहीं कर सकती। 'प्रसाद' की तत्सम-बहुल और भाव-प्रधान भाषा-शैली में नवीन युग की यह भाषा-विषयक देन कहीं नहीं मिलती। सारांश यह है कि 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा प्रसंग और रस के अनुकूल होकर कहीं सरस, कहीं ओज-प्रधान, कहीं व्यावहारिक बनती चली है। मुहावरों के अभाव में भी उसमें शिथिलता कहीं नहीं मिलती। वाक्यों के जिस अंश पर बल पड़ना चाहिए वह तो है ही, साथ ही शैली के अन्य गुण-धर्म भी यथास्थान नियोजित दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय

नाटककार 'प्रसाद' की सृष्टि ऐसे समय में होती है जिस समय

बँगला भाषा में नाट्य-रचना का पर्याप्त प्रचलन हो चुका है और पारसी कंपनियों की नीवँ पड़ चुकी है। इन नाटक-कंपनियों के बहुत से खेल हो रहे हैं। यों तो हिंदी में भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही नाटक लिखे जा रहे हैं और उनका अपना एक ढंग चल रहा है, परंतु देखने में अभी उनका कोई स्थिर रूप नहीं मिल रहा है, भारतेंदु की रचना के अतिरिक्त भी जो हिंदी में नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें भी कोई अपनापन नहीं दिखाई पड़ता। ऐसी अवस्था में 'प्रसाद' को अपनी एक नवीन पद्धति का चलाना बहुत अनुकूल नहीं मालूम होता, साथ ही सर्वथा नवीन प्रणाली का अनुकरण भी उनकी प्रतिभा को प्रिय नहीं है। अतः नूतन परिपाटी में नूतन विषय को उपस्थित करना ही वे अपना लक्ष्य बनाते हैं। इस नूतन परिपाटी में वे भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का संकल्प कर लेते हैं। इस आत्मा—सूक्ष्म, चेतन, प्राण—की जो बाह्य स्थूल शरीर-रूपरचना की पद्धति है उसमें नवीन-प्राचीन का सामंजस्य करना ही वे अपनी नीति निर्धारित करते हैं। इसी नीति के अनुसार रचना-पद्धति का जो रूप उन्हें चारों ओर चलता मिला उसी में से कुछ यहाँ का, कुछ वहाँ का स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में पारसी ढंग के नाटकों की भाँति पद्यात्मक सवाद और गाने मिलते हैं तथा कहीं बँगलावालों की तरह लंबे-लंबे कथोपकथन और स्वगत-भाषण दिखाई पड़ते हैं। दृश्यों और अंकों के विभाजन की जो परिपाटी भारतेंदु-काल में मिलती है उसी को 'प्रसाद' ने अपना लिया है, परंतु इसके औचित्य के विषय में अपना मत अंत तक वे स्थिर नहीं कर सके हैं, कहीं त्याग कहीं स्वीकार दिखाई पड़ता है। नवीनता के रूप में वध उन्होंने कई स्थानों पर दिखाया है। नंद, शकराज, रामगुप्त आदि रंगमंच पर ही मारे जाते हैं। ये बातें भारतीय पद्धति के अनुकूल नहीं हुई हैं। इनमें पाश्चात्य प्रणाली का ही प्रभाव है, भले ही वह प्रभाव अन्य साहित्य-मार्गों से होकर 'प्रसाद' के पास पहुँचा है। कुछ अंशों में बाह्य स्थूल शरीर से संबद्ध इन उपा-

दानों को स्वीकार करके 'प्रसाद' ने जहाँ समय की प्रगति के प्रति उदारता एवं समन्वय-बुद्धि दिखाई है वहीं अपने देश के प्राण की सुरक्षा में भी वे सफलतापूर्वक तत्पर दिखाई पड़ते हैं।

पाश्चात्य पंडितों ने संघर्ष, सक्रियता और समष्टि-प्रभाव को ही नाटक का सब कुछ माना है। इस बात का निर्वाह 'प्रसाद' ने बड़ी कुशलता से किया है। कहा जा चुका है कि 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' रूपकों में उक्त तीनों बातों का समावेश वर्तमान है। आद्यंत संघर्षमयी स्थितियों की शृंखला, सक्रियता का वेग और समष्टि-प्रभाव स्थापन की प्रवृत्ति मिलती है। आलोचना की पाश्चात्य पद्धति के अनुसार भी इन नाटकों में पूर्णता है। साथ ही पात्रों के द्वंद्वमूलक चरित्र-वैचित्र्य के उद्घाटन की जो प्रवृत्ति विदेशी नाटककारों में दिखाई पड़ती है उसका चित्रण भी 'प्रसाद' ने यथास्थान अपने नाटकों में किया है। बिंबसार, वासवी, स्कंदगुप्त, देवसेना, चाणक्य इत्यादि पात्रों में इसी प्रवृत्ति का प्रसार दिखाई पड़ता है। द्वंद्वमयी चरित्रांकन-पद्धति 'प्रसाद' की अपनी एक विशेषता है। इस आधार पर उन्होंने अनूठे पात्रों की सृष्टि करके भी उन्हें मानव-जगत् से पृथक् नहीं होने दिया है। इसके अतिरिक्त देश-काल के वर्णन में भी उनकी अभिरुचि सर्वत्र तत्पर दिखाई पड़ती है।

समन्वय-बुद्धि रखने पर भी अपने नाटकों में 'प्रसाद' ने भारतीयता का पूरा योग रखा है। भारतीय नाट्य-सिद्धांत के पंडितों ने प्राधान्य केवल वस्तु, नायक और रस को ही दिया है और यथार्थतः इन तीन अंगों के भीतर सब कुछ समाविष्ट है। 'प्रसाद' ने यथाविधि इन्हीं तीनों अंगों का विनियोग किया है और इनके द्वारा भारतीय आत्मा का—संस्कृति का—पूर्ण दर्शन कराया है। भारतीय पद्धति में वस्तु-विन्यास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, क्योंकि जितनी सूक्ष्मता से उसका नियंत्रण यहाँ किया गया है उतनी से अन्य देशों में नहीं। केवल कार्य की पाँच अवस्थाओं तक ही दृष्टि नहीं रही है अपितु वस्तु के विभाजन के साथ उन अवस्थाओं के बुद्धिसंगत संबंध-निर्वाह के

विचार से अर्थप्रकृतियों एवं संधियों का भी निवेश किया गया है। 'प्रसाद' के प्रायः सभी प्रमुख नाटकों में वस्तु-विन्यास के भीतर इस सिद्धांत की पूर्ण रक्षा दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो इनकी ऐसी अच्छी संगति बैठ गई है जैसी प्रायः प्राचीन नाटकों में प्राप्त होती है। 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसंधिसमन्वितम्' के विचार से 'प्रसाद' के नाटक परिभाषानुकूल हैं। साथ ही नायक के जितने भी धर्म हमारे शास्त्रकारों ने कहे हैं वे सभी नाटकों में दिखाई पड़ते हैं। 'प्रसाद' के नायक धर्म और गुण के आधार पर प्रायः धीरोदात्त हैं, साथ ही उनमें व्यक्ति-वैचित्र्य भी भरा है। ये नायक शुद्ध भारतीय जान पड़ते हैं क्योंकि भारतीय संस्कृति, व्यक्तित्व और चारित्र्य से ये युक्त हैं। प्रतिनायक धीरोद्धत नायक गुणों के अनुरूप दिखाई पड़ते हैं। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि नायक की रचना में भी 'प्रसाद' ने शुद्ध भारतीय पद्धति का ही अनुसरण किया है। इसके अतिरिक्त रस के संपूर्ण अवयवों के संयोग से रस-निष्पत्ति को 'प्रसाद' ने अपना लक्ष्य बनाया है। रस के प्रकरण में कहा जा चुका है कि 'प्रसाद' में विषय के अनुकूल शृंगार से पोषित वीर रस का प्राधान्य है और तत्संबंधी सभी अंगों की सम्यक् स्थापना हुई है, इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकता और पाश्चात्य शैली के साथ भारतीय पद्धति के मूल रूप का ऐसा सुखद संमिश्रण 'प्रसाद' ने किया है कि उनके नाटकों का गौरव और महत्त्व अखंड हो गया है।

आधुनिकता

इतिहास घटनाओं का क्रमानुगत विवरण होता है परंतु साहित्य में इन घटनाओं की व्याख्या होती है। लेखक अपनी योग्यता और अभिरुचि के अनुसार ही उसकी व्याख्या करता है। 'प्रसाद' ने प्राचीन इतिहास की प्रकांड घटनाओं के आधार पर ही अपने नाटक रचे हैं और उन घटनाओं की मौलिक प्रकृति की व्याख्या अपनी प्रतिभा के अनुसार की है। इस व्याख्या में कहीं-कहीं लेखक के देश-काल का

प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। लेखक अपनी सम सामयिक वस्तुस्थिति से अवश्य प्रभावित है। 'चंद्रगुप्त' में जिस प्रकार राष्ट्रिय जागरण का चित्रण उसने किया है और उसका जैसा विस्तार संगठित हुआ है उसके मूल में आधुनिक राष्ट्रिय आंदोलन का रूप झलकता है। आर्य-पताका लेकर जो अलका देशप्रेम का अलख जगाती फिरती है उसमें आधुनिकता का सच्चा रूप दिखाई पड़ता है। चाणक्य, सिंहरण और चंद्रगुप्त के बीच जिस राष्ट्रिय भावना की चर्चा होती है उसका भी यही रूप है। स्कंदगुप्त जिस संपूर्ण आर्यावर्त की रक्षा का भार लेकर चलता है वह अवश्य ही गुप्त साम्राज्य से महत्तर वस्तु है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी जो इतना अधिक देशव्रत का संकल्प लिए दिखाई पड़ती हैं और पुरुषों की चिरसंगिनी बनकर उनके उद्योग में योग दे रही हैं उसके मूल में भी वर्तमान युग की प्रवृत्ति है। बौद्ध-वैदिक धर्मों की ओट में जो नंद की मूर्ख प्रजा नचाई जा रही है वह हिंदू-मुस्लिम भेद-भाव का अच्छा चित्रण है। 'ध्रुवस्वामिनी' में जो पुनर्विवाह और नारी-समस्या खड़ी हुई है उससे भी आधुनिकता ही ध्वनित हो रही है।

नाटकों में दार्शनिक विचार-धारा

'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटकों में नियति और प्रकृति का बारंबार उल्लेख हुआ है। अनेक पात्र नियति के चक्र में पड़े दिखाई देते हैं। अतएव उसका अभिप्राय पारिभाषिक सा हो गया है। शैवागमों में माया की अनेक उपाधियाँ कही गई हैं जिनका पारिभाषिक नाम कंचुक—शक्ति को परिच्छिन्न बनानेवाला आवरण—है। उनमें से एक नियति—नियमन-हेतु—कहलाता है। इसके कारण वह जीव नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। 'प्रसाद' की नियति भी इसी मत से मिलती-जुलती वस्तु है—'नचती है नियति नटी सी, कंदुक-क्रीड़ा सी करती'। जैसे दक्ष नटी कुछ कंदुकों को लेकर क्रीड़ा करती है, कभी उछालकर ऊपर फेंकती है कभी नीचे ले आती है, उसी

प्रकार अखंड विश्व के जीव भी नियति के हाथ से नियंत्रित क्रीड़ा-कंदुक मात्र हैं। कामायनी में भी यही ध्वनि निकलती है—'कर्मचक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियति-प्रेरणा'। नियति को अपने सिद्धांत के अनुसार 'प्रसाद' ने अखिल ब्रह्मांड की नियंत्रणकारिका शक्ति कहा है। इसी अर्थ का प्रतिपादन उनके नाटकों से होता है। 'जनमेजय—सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है'। 'व्यास—दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृश्य शक्ति के क्रीड़ा-कंदुक हैं। अंध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है। × × × देखा नियति का चक्र। यह महा-चक्र आप ही अपना कार्य करता रहता है'। 'बिंब-सार—प्रकृति उसे (मनुष्य को) अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किंतु वह कब मानता है'। 'नरदेव—प्रकृति के दास मनुष्य को आत्मसंयम, आत्म-शासन की पहली आवश्यकता है'। राज्यश्री—पर जीवन ! आह ! जितनी साँसें चलती हैं वे तो चलकर ही रुकेंगी'। इस प्रकार नियति की प्रेरणाशक्ति अबाध और निश्चित स्वीकार की गई है। सारा चराचर जगत् उसी के निरूपित मार्ग से चलेगा। उसके लिए कोई दूसरा अवलंब है ही नहीं। फिर भी मनुष्य क्या निश्चेष्ट होकर बैठे रहें—यह विचार कर कि जो निश्चित है वह तो होकर ही रहेगा। उत्तर है—'नहीं।' इस 'नहीं' के उपरांत वह क्या करे इसी के दृष्टांत 'प्रसाद' के सब नाटक हैं। बुद्धदेव ने ही थोड़े में निर्णय कर दिया है—'शुद्धबुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिए'। प्रेमानंद ने इस सत्कर्म के प्रयोजन भी बताए हैं—'सत्कर्म हृदय को विमल बनाता है और हृदय में उच्च प्रवृत्तियाँ स्थान पाने लगती हैं, इसलिए सत्कर्म कर्मयोग को आदर्श बनाना, आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करना है'। नियति और शुद्धबुद्धि से प्रेरित कर्मयोग का समन्वय जीवक ने बड़ा अच्छा किया है—'अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोर पकड़कर मैं निर्भय

कर्मकूप में कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कादर क्यों बनूँ—कर्म से विरक्त क्यों रहूँ'। 'प्रसाद' के सभी उदात्त नायक जीवन के आदर्श को ही लक्ष्य मानकर चले हैं। यह स्पष्ट है।

इस कर्मयोग में भी द्वंद्वों से छुट्टी नहीं मिलती। सुख-दुःख पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि के संघर्ष के अंतराल से ही कर्म जगत् चलता है। अतएव इन द्वंद्वों से भयभीत न होकर शुद्ध बुद्धि-ज्ञान के आधार पर उनमें सामंजस्य स्थापित करना ही अपना लक्ष्य बना लेना चाहिए। क्योंकि सुख को लेकर ही प्रकृति दुःख को तौलती है। और इन्हीं द्वंद्वों के संतुलन का उपदेश निरंतर जीव-जगत् को देती रहती है। ये द्वंद्व वस्तुतः अभिन्न है। इसी अभिन्नत्व में भिन्नत्व देखनेवाला प्राणी दुःखी रहता है और भिन्नत्व में अभिन्नत्व देखनेवाला भूमा का अधिकारी बनता है—'मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का; दुख-सुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का'। अथवा 'लिपटे सोते थे मन मे सुख दुख दोनों हो ऐसे ; चंद्रिका अँधेरी मिलती मालती-कुंज में जैसे।' अथवा 'नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण-जलधि समान ; व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान'। इन पंक्तियों में जिस सामंजस्य भाव का कथन हुआ है उसी समरसता—सामंजस्य—का निर्वाह 'प्रसाद' के संपूर्ण नाटकों में दिखाई पड़ता है। देवसेना ने तो स्पष्ट ही इस द्वंद्व का उल्लेख किया है—'पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक दुःख है। पुण्य की कसौटी पाप है'। इसके अतिरिक्त स्कंदगुप्त, देवसेना, चाणक्य इत्यादि पात्रों के जीवन में इसी सामंजस्य का विस्तार दिखाई पड़ता है। अगाध शक्ति के साथ भी स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त में अभाव का चीत्कार भी उठता है। सब कुछ होकर भी वे किसी न किसी अभाव के कारण दीन ही बने रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म-चक्र के प्रवर्तन में संपूर्ण संतुलित होते रहते हैं। कहीं अत्यंत सुख है तो फिर वहीं अत्यंत दुख भी आ

पहुँचता है। सुख-दुःख की पूर्णता नहीं होने पाती।

ब्रह्म-चक्र अथवा नियति के नियंत्रण का विषय संपूर्ण जीव-जगत् और प्रकृति-क्षेत्र है। उसमें भी नियंत्रण का प्रधान विषय है द्वंद्व-विप्लुत मानव-समाज। नियति, द्वंद्व और मानव में अधिकारी, अधिकार और अधिकृत का संबंध है। मानव-समाज प्रधानतः दो वर्गों में विभाजित है—स्त्री और पुरुष। इन दोनों में प्रथम प्रेरणा है और द्वितीय चित्, अतएव उनमें प्रकृति-पुरुष संबंध है। प्रकृति की प्रेरणा से ही चेतन पुरुष सक्रिय होता है। इस सक्रिय चेतन का लक्ष्य होता है स्वर्ग और भूमा। वह नियति से प्रेरित होकर द्वंद्वों में समत्व देखता हुआ अपने लक्ष्य मार्ग पर बढ़ता चलता है। यह लक्ष्य—यह स्वर्ग—यह असाधारण महत्त्व इसी मानव-लोक में मिलता है। धातुसेन कहता है—'प्रकृति क्रियाशील है। समय मनुष्य और स्त्री का गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है'। देवसेना कहती है—'जहाँ हमारी सुंदर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल, स्वर्ग है और वह इसी लोक में मिलता है' जो मिलता है वह स्त्री और पुरुष के रूप में—'संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति-सौरभवाले प्राणी देखे जाते हैं'। ये प्राणी द्वंद्व के गोचर हैं, इसीलिए—मुँह में से आधी रोटी छीनकर भागनेवाले विकट जीव यहीं तो हैं। श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर, मनुष्यों की पतित दशा है'। मानव-जगत् का यह द्वंद्व उत्तम और अधम के बीच चलता है। एक ओर राज्यश्री की उत्तमता है और दूसरी ओर विकटघोष की अधमता, एक ओर स्कंदगुप्त का महत्त्व है और दूसरी ओर प्रपंचबुद्धि की नीचता, एक ओर अलका की देशभक्ति है तो दूसरी ओर आंभीक का देशद्रोह। इसी प्रकार कहीं कीर्ति-सौरभवाले प्राणी हैं तो कहीं श्मशान के कुत्तों से बढ़कर मनुष्य।

इन द्वंद्व के विषय—पुरुष और स्त्री—के संबंध का मूल सूत्र प्रेम है। यही कारण है कि 'प्रसाद' के नाटक प्रेम के विविध स्वरूप एवं स्थिति के चित्रों से भरे हैं। प्रेम, पात्र के नैतिक बल के अनुसार कहीं सुंदर परिणाम वहन करता दिखाया गया है कहीं असुंदर। जैसे स्वर्ग-नरक और देव-दानव का संयोग-स्थल संसार है उसी प्रकार सुंदर एवं असुंदर प्रेम की विलास-भूमि मानव-हृदय है। यह हृदय कहीं विजया और देवसेना का होकर अपने को क्रीड़ा-क्षेत्र बनाता, कहीं अलका, वासवी, वपुष्टमा और चंद्रलेखा में रूप धारण करता और कहीं सुरमा, अनंतदेवी और छलना में अभिव्यक्त होता है प्रेम के क्षेत्र में भी विपर्यय दिखाई पड़ता है। परंतु प्रकृत संबंध का मूल सूत्र अवश्य ही दिव्य और मंगलमय है। यदि उसमें किसी प्रकार की विकृति आई भी तो प्रकृति सुधार का प्रयत्न करती है, यत्न सफल होता है और विकृति के स्थान पर प्रकृति की विजय हो जाती है। इस विकृति द्वारा जनित दुर्बलता तभी उत्पन्न होती है जब स्त्री और पुरुष अपने-अपने माहात्म्य को भूलकर सीमोल्लंघन कर जाते हैं। जैसे पुरुष की अपनी राज्यसीमा है वैसे ही स्त्री का भी अपना संसार है। जब एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है तो नाना प्रकार की अवस्थाएँ उत्पन्न होकर प्रकृत सौंदर्य को विकृत बनाने लगती है। यदि उनमें प्रकृत संबंध बना रहे तो समाज में सुख, शांति और मंगल की विभूति बिखर जाती है।

प्रेमचंद

१. प्रेमचंद का बीजभाव
२. प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ
३. गोदान

प्रेमचंद का बीजभाव

प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर ऐसे लेखक और कवि हो गए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियों, राष्ट्रिय भावनाओं एवं सदाचार का व्यापक चित्रण किया है। समाज के विभिन्न अवयवों की कालविशेष में कैसी परिस्थिति थी, राजनीतिक क्षेत्र में किस प्रकार अनेक मानसिक विचारों के घात-प्रतिघात चल रहे थे और शासक-शासित का कैसा संबंध था, और उस समय के व्यष्टि तथा समष्टि के धार्मिक आचरण में किन बाह्य एवं आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों का कैसा प्रभाव पड़ रहा था—इनका विस्तृत परिचय उनकी कृतियों से प्राप्त होता है।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंदजी भी इसी प्रकार के विशिष्ट लेखकों की कोटि में थे। उन्होंने अपने रचना-विस्तार में एकरस होकर सामाजिक, राष्ट्रिय एवं धार्मिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे वर्तमान काल के सच्चे और सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। कालांतर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और इनकी रचनाएँ बची रह सकें तो उन्हीं के आधार पर विचारशील निर्णायक देश की सामाजिक जाग्रति का व्यापक और स्पष्ट आभास प्राप्त कर सकता है। प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों और कहानियों के कथा-प्रवाह में समयानुसार—स्थान-स्थान पर भारतीय समाज के मानसिक चिंतन तथा व्यावहारिक क्रिया-कलाप का यथार्थ चित्रण किया है। इन चित्रों के प्रमाण का योग लेकर कोई भी उनके व्यापक अनुभव और परिपक्व बुद्धि-बल का ज्ञान प्राप्त कर सकता है सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रवाह और परिवर्तन के मूल में किस समय कैसी भावना काम करती है और उसका परिणाम तत्कालीन व्यवस्था पर कैसा पड़ता है, इसका ज्ञान प्रेमचंदजी को पूरा-पूरा था।

उनके समकालीन भारतवर्ष में शासक-शासित की स्वच्छंद प्रवृत्ति अविश्वासपूर्ण एवं कलुषित दिखाई पड़ती है। राजा और प्रजा के बीच व्यापक आंदोलन हो रहे हैं और राष्ट्रिय जाग्रति दिन दूनी रात

चौगुनी बढ़ती जा रही है। जमींदारों और धनिकों में अपने समीप भविष्य के प्रति आशंका उत्पन्न होने लगी है। वे समझते हैं कि अर्थ-शोषण की पक्षपात-पूर्ण नीति भविष्य में भयंकर उपद्रव और विरोध खड़ा करेगी। कृषकों और दुर्बल धन-हीनों के संगठन का महत्त्व वे समझने लगे हैं। इधर असहाय-पक्ष भी यह समझने लगा है कि हमने बहुत सहन किया है अब विरोध और संगठन की परमावश्यकता है। दूसरी ओर मिल-मालिकों और मजदूरों का संघर्ष नित्य वृद्धि पाता जा रहा है। परस्पर अविश्वास की मात्रा निरंतर बढ़ रही है। इस प्रकार धनिक-श्रमिक, राजा-प्रजा एवं भूपति-कृषक—सभी वर्गों में असंतोष, अविश्वास और स्वार्थ बढ़ने के कारण राष्ट्र में व्यापक आंदोलन हो रहे हैं; धन-जन की क्षति बढ़ रही है और सर्वत्र अशांति दिखाई पड़ती है। राजनीतिक क्षेत्र की भयावह परिस्थिति का ज्ञान प्रेमचंदजी को पूर्ण रूप से था। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गोदान' प्रभृति उपन्यासों में उन्होंने इसके सुंदर, प्रभावशाली और सर्वथा यथार्थ चित्र खींचे हैं। अन्याय और अत्याचार के विरोध की भावना धीरे-धीरे जनसाधारण में बढ़ रही है। अब शासित पक्ष किस प्रकार भय और शक्ति-प्रदर्शन से निर्भय होता जा रहा है और शासक वर्ग भी शासित के संगठन को देखकर भीतर-भीतर सशंक रहता है, इसका चित्रण भी उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। इसी प्रकार प्रेमचंदजी में समयानुसार पुलिस की दुर्बलताओं और उसके निरर्थक कठोर व्यवहार, घूसखोरी, उत्पीड़न-प्रवृत्ति, फौजी सिपाहियों की दुर्बुद्धिपूर्ण उद्दंडता आदि अनेक विषयों के अनुभवपूर्ण विवरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

कौटुंबिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा विचार-प्रवृत्तियों का निदर्शन भी प्रेमचंदजी ने प्रकृत रूप में किया है। 'सेवा-सदन,' 'गबन', 'गोदान' इत्यादि उपन्यासों और अनेक कहानियों में उन्होंने वर्तमान हिंदू-समाज के यथार्थ, अनुभूतिपूर्ण और निर्मल चित्र खींचे हैं। नाना विषम परिस्थितियों से आपूर्ण हमारा कौटुंबिक जीवन कितना कष्टमय है, किस प्रकार मान-मर्यादा के परिपालन में हम अपने

धन-धान्य तथा जीवन तक निछावर कर देते हैं, दान-दहेज और वर्तमान-वैवाहिक कुरीतियों के कारण हमारे जीवन में कितनी विषमताएँ उपस्थित हो जाती हैं, विधवाओं की हिंदू-समाज में कितनी दुर्दशा तथा अवमानना है, हमारे घरों में नवीनता और प्राचीनता का कैसा निरंतर द्वंद्व चला करता है, अपनी सामाजिक रूढ़ियों के खंडन मंडन में हम कैसे व्यस्त हैं, समाज में आत्म-प्रवंचना का विस्तार कितनी शीघ्रता से बढ़ रहा है—इत्यादि विषयों का विवरण सभी स्थानों पर मिलता है सामाजिक संस्थाओं का नेतृत्व और नियंत्रण कुरुचि-पूर्ण, उत्साहहीन, समाजभीरु, स्वार्थी और प्रवंचकों के द्वारा होता है। कहीं-कहीं सौ में एक चरित्रवान् व्यक्ति भी मिल जाते हैं। प्रायः म्यूनिसिपैलिटी और अनाथालयों ऐसी सामाजिक संस्थाओं में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। प्रेमचंदजी ने हमारे समाज के वाग्वीरों पर अच्छे—पर सच्चे आक्षेप किए हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर समाज के दुर्बल पक्ष की तीव्र आलोचना भी की है, उसकी समस्याओं की विषमता का चित्रण भी किया है तथा सुधार के आधारों का अनुमान भी लगाया है।

प्रेमचंदजी की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है—भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन। इसके साथ ही वे मर्यादा और आदर्शवाद की स्थापना में भी दत्तचित्त थे, क्योंकि उनका अटल विश्वास था कि किसी समाज और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब वह अपनी संस्कृति, सदाचार एवं आदर्श को अपनाने की सदैव चेष्टा करता रहे। इस विषय में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—परधर्मो भयावहः' ही उनका मूल मंत्र था। इसी का विस्तारपूर्वक चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों तथा अपने उपन्यासों में किया है। वर्तमान भारतवर्ष में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष में हम वारबार, बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क से आपूर्ण पश्चिमी-सभ्यता की ओर लालायित होकर बढ़ते हैं, परंतु उसकी अनुपयुक्तता और खोखलापन देखकर संकुचित हो जाते हैं। उसके असत् आडंबर हमें खींचते हैं और हम अपनापन त्याग कर उनके आकर्षण में पड़ जाते हैं। इसका प्रधान

कारण यह है कि हम अपने को हेय समझते हैं और अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपनी रीति-नीति, अपने खान-पान, रहन-सहन धर्म-आदर्श इत्यादि पर विचार करने के पूर्व ही उसे समय के प्रतिकूल और अमंगलकारी मान लेते हैं।

प्रेमचंद का यह विश्वास था कि हमारी अवनति का प्रधान हेतु यही है कि हम अपनेपन का संमान करना नहीं जानते, अपनी विभूतियों और महत्त्व की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों के काँच के टुकड़े को देखकर अपने हीरे फेंक बैठते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अंतर है। यूरोप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है, भारत की सत्य पर। संपन्न यूरोप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं, लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला यूरोप, हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाजी भले ही क्यों न ले जाय, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।' 'इतना मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।' यही प्रेमचंदजी की रचनाओं का मूलमंत्र है और इसी विचार के आधार पर उनकी कहानियों और उपन्यासों का आकार प्रकार खड़ा है। किसी-किसी कहानी में तो उन्होंने केवल यही व्यंजित किया है कि अपनी संस्कृति ही कल्याण-कारिणी हो सकती है, जैसे—'शान्ति,' 'दो सखियाँ' और 'सोहाग का शव' में। इसी सिद्धांत के प्रतिपादन के निमित्त उन्होने अनेक उपन्यासों और कहानियों के विभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है। यही उनकी संपूर्ण रचना का रहस्य है।

———

प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ

कहानियों के वर्गीकरण के अनेक सिद्धांत हैं, परंतु मुख्य आधार दो हैं। कहीं विचारकर्ता का विश्लेषण विषयगत होता है और कहीं रचना-पद्धति के आधार पर। कहानियों की रचना-शैली का यदि विचार किया जाय तो कुछ कहानियाँ इस प्रकार लिखी मिलेंगी जिसमें लेखक अपनी व्यावहारिक अनुभूति का कथन आप-बीती के रूप में करता है। अपने अनुभवों और घटना-प्रबंध को इस ढंग से लिखता है कि आत्मचरित का रूप खड़ा हो जाता है। इसे आत्म-चरितात्मक शैली कहा जा सकता है। इसमें उत्तम पुरुष और एक वचन का प्रयोग प्रधान होता है जैसे—'माँगे की घड़ी।' इसके अतिरिक्त कुछ कहानियों में लेखक का रूप इतिहास-लेखक-सा रहता है। उनमें लेखक अपने विषय-विस्तार के भीतर आनेवाली संपूर्ण घटनाओं के कार्य-कारण-परिणाम का निर्दिष्ट ज्ञाता होता है और उन घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों का कर्त्ता अथवा परिणाम-उपभोक्ता जो मानव है उसके अंतर्जगत् तथा स्थूल जीवन का दर्शक एवं समीक्षक भी वही होता है। ऐसी स्थिति में वह सच्चे विवरण-लेखक और आलोचक के रूप में दिखाई पड़ता है। स्वयं सूत्र-धार बनकर अभिनय का नियंत्रण करते हुए दर्शकों की भाँति विश्लेषण और व्याख्या करता चलता है। इस पद्धति पर लिखी कहानियाँ अधिक दिखाई देती हैं। जैसे—'अग्नि-समाधि,' 'ऐक्ट्रेस', 'सुजान भगत' और 'सुहाग का शव'। इससे भिन्न पत्रात्मक शैली होती है। उसमें लेखक कुछ निर्दिष्ट पात्रों के बीच इस ढंग से पत्र-व्यवहार कराता है कि उनके जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ, संपादित हुए कार्य-व्यापार और भावों की अनेकरूपता इस प्रकार से लिखी जाती हैं कि उनका एक क्रम

स्थापित हो जाता है। ये पात्र प्रायः मित्र होते हैं। एक पात्र दूसरे के पास पत्र लिखता है। उसमें अपने यहाँ की घटनाएँ, कार्य-व्यापार और तद्विषयक व्यक्तिगत भावनाएँ और विचार लिखता है। इसके प्रत्युत्तर में दूसरा मित्र पात्र उसका उत्तर और साथ में अपने पक्ष की बातों को लिखता है। इसी प्रकार प्रबंध का निर्वाह होता है। इसका अच्छा उदाहरण 'दो सखियाँ' शीर्षक कहानी है।

[विषयगत वर्गीकरण कहानियों के विभिन्न तत्त्वों के न्यूनाधिक्य पर आश्रित है। वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन (संवाद), देशकाल, उद्देश्य इत्यादि तत्त्वों के योग से कहानी की रचना होती है। इनमें से यदि किसी एक तत्त्व का प्राधान्य कहानी में दिखाई पड़ा तो उसी आधार पर उस कहानी का भेद-कथन किया जायगा] इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि उसमें अन्य तत्त्वों का सर्वथा अभाव होगा प्रत्युत अभिप्राय प्रधानता अथवा न्यूनाधिक्य का है। ऐसी कहानियाँ लिखी गई हैं जिनमें प्रत्यक्ष प्रधानता चरित्र की है अथवा उसके वस्तु (घटना) अथवा उद्देश्य (सिद्धांत-प्रतिपादन और उपदेश) में ही विशिष्टता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार तत्त्वों के न्यूनाधिक्य के विचार से कहानियाँ चरित्र प्रधान (जैसे 'सुहाग का शव' और 'माँगे की घड़ी'), वस्तु (घटना)-प्रधान (जैसे 'सुजान भगत' और 'अग्नि-समाधि') और उद्देश्यप्रधान (जैसे 'पिसनहारी का कुँआ' और 'पंच परमेश्वर') होती हैं। कुछ लोग विषयगत वर्गीकरण का साधारण और स्थूल अर्थ लेकर ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक और राजनीतिक इत्यादि भेद उपस्थित करते हैं। परंतु ऐसा करना समुचित नहीं माना जा सकता क्योंकि इन विषयों की व्याप्ति अत्यधिक है और उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त यदि संक्षेप और स्पष्टता अभिप्रेत हो तो कहानियों के केवल दो भेद करने चाहिए इतिवृत्त-प्रधान और भावप्रधान। इतिवृत्त-प्रधान के अंतर्गत उन सब कहानियों का समावेश होना चाहिए जिनमें कथांश अधिक है, भले ही प्रबंध-विस्तार के भीतर

कहीं घटना की, और कहीं चरित्र की प्रधानता हो। उपदेश और सिद्धांत-प्रतिपादन में भी इसी वर्ग की कहानियाँ अधिक योग देंगी क्योंकि उदाहरण उपस्थित करने में सरलता हो सकती है। इनसे भिन्न वे कहानियाँ हैं जिनमें प्रतिपाद्य कोई भाव रहता है। उसके परिचय, आलंबन, उद्दीपन इत्यादि भर उपस्थित किए जाते हैं। भले ही अनुभाव प्रभृति अंगों के चित्रण के विचार से अथवा भाव की विभिन्न स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए थोड़ी सहायता इतिवृत्त से भी ली जाय। परंतु वहाँ उद्देश्य केवल किसी भाव विशेष का आभास भर रहता है इस वर्ग के लेखकों में प्रधान 'प्रसाद'जी थे। प्रेमचद की 'आत्मसंगीत' शीर्षक कहानी को इसी में स्थान मिलेगा।

प्रेमचंद की इन कतिपय कहानियों की, अत्यंत संक्षेप में, गुणावगुण-विवेचना करने के उपरांत उनके मूल-भाव और प्रतिपाद्य विषयों का परिचय एवं विश्लेषण ही मेरा अभिप्राय है। कहानीकार की समग्र विभूतियों का अनुशीलन उद्दिष्ट नहीं है परतु तद्विषयक विचार-विमर्ष से अवश्य ही उनकी साधारण रचना-चातुरी का स्वरूपबोधन हो जायगा। यों तो जैसा कहा जा चुका है, प्रेमचदजी ने प्रायः सभी प्रकार की शैलियों में विविध वर्ग की आख्यायिकाएँ लिखी हैं, परंतु दो-चार को छोड़कर उनमें इतिवृत्त की ही प्रधानता है। उसी के योग से उन्होंने कहीं सिद्धांत-स्थापन, कहीं चरित्रांकन और कहीं वस्तु-स्थिति (घटना) का चित्रण किया है। वातावरण (देश-काल वर्णन) प्रधान कहानियाँ प्रेमचदजी ने प्रायः लिखी ही नहीं। साधारणतः उनकी सभी रचनाओं, कहानियों और उपन्यासों में स्थान-स्थान पर प्रबंध में अनुकूलता मिलने पर ग्राम-नगर, धनाढ्य-दरिद्र, ऊँच-नीच, सभी का मार्मिक, अनुभूतिपूर्ण और प्रकृत चित्रण हुआ है। साथ ही इनसे लगा हुआ जो जीवन है उसका भी यथार्थ एवं प्रभविष्णु वर्णन सर्वत्र मिलता है। 'सुजान भगत', 'अग्नि-समाधि', 'पिसनहारी का कुँआ' और 'माँगे की घड़ी' शीर्षक कहानियाँ इस कथन के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। उपन्यासों में तो ऐसे अनेकानेक स्थल आए हैं जहाँ इस विषय में लेखक

की सिद्धि निर्विवाद दिखाई पड़ती है। परंतु यह सब साधन-रूप में हैं साध्य रूप में नहीं। अतएव उसकी प्रधानता नहीं मानी जा सकती। अंग्रेजी में इस सिद्धांत पर इतनी कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं कि उनका एक वर्ग ही निर्धारित किया गया है; जिन्हें—'Atmosphere Stories' कहा जाता है। कहीं-कहीं 'प्रसाद' की कहानियों में इसका अच्छा प्रवेश दिखाई पड़ता है अन्यथा इस प्रकार की रचनाओं की ओर हमारे लेखकों की प्रवृत्ति अभी नहीं दिखाई पड़ती।

प्रेमचंदजी में कुछ दोष की बातें खटकती हैं। कहानी के क्षेत्र में भी नाटकीय योजना के प्रवेश से रस और आकर्षण बढ़ जाता है। अन्य विषयों की भाँति कहानियों का भी आरंभ और अंत—अभिनयात्मक ढंग से विशेष रुचिकर मालूम पड़ता है। प्रमाण और उदाहरण के रूप में 'प्रसाद' के 'आकाश-दीप' का आरंभ और 'गुंडा' का अंत रखा जा सकता है। [इस प्रकार आरंभ और अंत संभवतः प्रेमचंदजी में कहीं न मिलेगा। उनका आरंभ प्रायः स्थान, मनुष्य और सिद्धांत-परिचय से होता है; अतएव उनमें एक प्रकार की रूक्षता दिखाई पड़ती है। इसके पहले कि पाठक प्रधान प्रवाह तक पहुँचे, उसका उत्साह क्षीणकाय हो जाता है। 'अग्नि-समाधि' में इसकी झलक स्पष्ट मिलती है। इसी प्रकार अंत भी रूक्ष हो जाता है। प्रधान काव्य-व्यापार की समाप्ति के उपरांत जब कहीं लेखक मूल-वृत्ति और निष्कर्ष की विवेचना करने लगता है तो निरर्थक सा ज्ञात होता है। अनुमितार्थ तक पहुँचने में सहृदय को जो काव्यात्मक आनंद का अनुभव होता है उसका अभाव इनकी कहानियों में खटकता है। साधारण उदाहरण के लिए 'सुजान-भगत' का अंत देख लीजिए। प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण वाचिक न बनाया जाता तो विशेष सुंदर मालूम पड़ता, यदि इसका मोह अनिवार्य था तो कुछ एवं अधिक अच्छा होता। इसी दोष से मिलती हुई एक बात और है। जिस स्थल पर कहानी समाप्त हो जानी चाहिए वहाँ नहीं की जाती। लेखक अपने पाठकों के अनुमित बोध पर विश्वास नहीं करता और तब तक अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं समझता जब तक परिणाम

का भलीभाँति कथन नहीं कर लेता। उसे संदेह रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि पाठक बहक जायँ और अभीष्ट को प्राप्त न कर पाएँ।

इन दोषों का कारण भी है। लेखक अपनी इस प्रवृत्ति को भलीभाँति जानता और समझता भी था। अतएव समयानुसार उसने तद्विषयक व्यक्तिगत विचार भी लिखे हैं जो विचारणीय अवश्य हैं। 'हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरंभ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरंभ हो जाती है, कहीं पुलिस-कोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है।'*

रचना-पद्धति की विशिष्टता के अतिरिक्त कहानी और उस प्रकार की अन्य कथा-प्रबंध-मूलक कृतियों में तात्त्विक अंतर है। आजकल आख्यायिका-लेखन की रुचि की अधिकता के कारण कुछ लेखकों की यह धारणा दिखाई देती है कि संभवतः उपन्यासों का स्थान भी इन्हीं को मिल जायगा। वे अज्ञानवश यह विचार करने लगे हैं कि इन दोनों प्रकार की रचनाओं में केवल आकार-भेद है अन्यथा वे एक ही वर्ग की सृष्टि है। इस भ्रांतिमूलक विचार के कारण अज्ञान फैल रहा है। कोमल-बुद्धि विद्यार्थियों के ऊपर इस ढब की बातों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आख्यायिका और उपन्यास में रचना-पद्धति और सिद्धांत-संबंधी बड़ा व्यापक अंतर है। दोनों के लक्ष्य और साधन में तात्त्विक भेद है। दोनों की मूल भित्ति ही भिन्न-भिन्न हैं। अतएव एक दूसरे के स्थान को कदापि ग्रहण नहीं कर सकते।

अवसर मिलने पर इस विषय का विचार अन्यत्र किसी समय किया

---

* 'कुछ-विचार' भाग एक, लेखक—प्रेमचंद, पृ० ४० प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस।

जायगा। यहाँ इस विषय पर मुंशी प्रेमचंदजी ही के एक उद्धरण के द्वारा यह विषय स्पष्ट किया जायगा। यों तो उनका कथन साधारण और संक्षिप्त है परंतु अभीष्ट-सिद्धि के लिए यथेष्ट है। 'प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अंतर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अंतर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अंतर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लाएँ। चाहे जितने दृश्य दिखाएँ, चाहे जितने चरित्र खींचे; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केंद्र पर आकर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं; बल्कि कई सुविज्ञजनों की संमति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए।*

इस प्रकार प्रत्येक कहानी में केवल एक ही मूल लक्ष्य अथवा साध्य रहता है। वह चाहे चरित्र की झलक हो, चाहे किसी घटना का महत्त्व हो अथवा किसी तत्त्व, सिद्धांत और भाव का स्पष्टीकरण हो। इसी कथन के आधार पर मैं यहाँ 'अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियों' शीर्षक संग्रह में आई हुई आठों आख्यायिकों के मूल प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख भर करूँगा। इससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि लघु विस्तार के भीतर थोड़े से कार्य-व्यापारों के द्वारा और संक्षिप्त घटनाओं की योजना करके एक विज्ञ अनुभवी लेखक कितनी चतुराई के साथ अपने अभिप्रेत लक्ष्य को पाठकों के संमुख रखकर अपनी प्रतिभा-चमत्कार से प्रभावित करता है। इन लक्ष्य विषयों का कहीं-कहीं तो प्रेमचंदजी ने कहानी-रचना के बीच ही में स्वयं स्पष्ट शब्दों में उल्लेख कर दिया है, जैसे—'सुजान-भगत,' 'दो सखियाँ,' और 'ऐक्ट्रेस' में और कहीं-कहीं

---

* 'कुछ विचार', पृ० ३८

पाठक विभिन्न घटना और कार्यव्यापारों के बल पर निष्कर्ष-रूप में इष्ट तक पहुँच जा सकता है। कुछ लोग तो इस प्रकार के स्पष्ट शाब्दी इष्ट-कथन को बहुत सुंदर नहीं मानते। उनका विचार है कि साध्य अनुमान-गम्य ही रहने दिया जाय तो अच्छा है। परंतु 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'।

अग्नि-समाधि—इस कहानी में लेखक ने गाँव के जीवन और वातावरण का सुंदर और प्रकृत चित्रण किया है। वहाँ के लोगों की स्थिति क्या है, कौन उसके सच्चे प्रतिनिधि हैं, शिक्षा के अभाव से उनका जीवन कितना कटु एवं विषम बना है, इसकी यथार्थ झलक थोड़े से विस्तार में ही दे दी गई है। वहाँ कैसी और किस कारण परिस्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं, उनके मूल में और परिणाम में मनुष्य किस रूप में दिखाई पड़ता है और फिर अपने ही उत्पन्न किए हुए परिणामों के कारण उसके चरित्र एवं आचरण में कैसा परिवर्तन उपस्थित होता है, इसका विश्लेषण अच्छा है।

'साधु-संतों के सत्संग से बुरे भी अच्छे हो जाते हैं, किंतु प्रयाग का दुर्भाग्य था कि उस पर सत्संग का उलटा ही असर हुआ। उसे गाँजे, चरस और भंग का चस्का पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि एक मेहनती, उद्यमशील युवक आलस्य का उपासक बन बैठा।' फिर क्या था जब तक उसकी पत्नी रुक्मिन उसके इन दुर्व्यसनों के लिए पैसे देती रही तब तक तो ठीक था। लेकिन टालटूल का रूप देखते ही वह सिलिया को उपपत्नी के स्वरूप में ले आया और इस प्रकार कभी इससे और कभी उससे उनकी मेहनत की कमाई का पैसा पाने लगा। एक दिन दोनों स्त्रियों में युद्ध हो पड़ा और उसने नवागता का पक्ष लेकर रुक्मिन को खूब पीटा। पिटने के कारण उसकी समस्त आत्मा हिंसा-कामना की अग्नि से प्रज्वलित हो उठी और प्रतिकार-भाव से प्रेरित होकर उसने खेत पर पड़ी प्रयाग की सोनेवाली मड़ैया में आग लगा दी। प्रयाग जब वहाँ पहुँचा तो दोनों तरफ पके खेतों के बीच में मड़ैया को जलती देखकर जल्दी से उसके नीचे पहुँच लाठी के बल उसे उठा लिया और खेतों के बाहर निकलने की चेष्टा करने लगा। अभी वह पूरा निकल

भी नहीं पाया था कि आग की लपटों के बढ़ जाने के कारण लड़खड़ाने लगा। इतने में ही बड़े वेग से रुक्मिन आई और जलती मड़ैया के भीतर घुसकर उसे अपने ऊपर लेकर वेग से खेतों के बाहर तो निकल आई परंतु मड़ैया के भीतर से न निकल पाई।

यह शुद्ध इतिवृत्तात्मक कहानी है। कुढ़न के मारे रुक्मिन ने स्वयं अनिष्ट खड़ा किया और प्रतिकार-भावना से प्रेरित होकर उसने पति को दंड देने का उद्योग किया। इसमें पूरा-पूरा प्रकृतत्व है। उसका अभिप्राय यह नहीं था कि प्रयाग उस मड़ैया में जल मरे। जब उसने चरम अपघात होते देखा तो उस अनिष्ट के मूल में अपने को पाकर उसके चित्त में चरम प्रायश्चित का भाव भी तुरंत ही उदय हो उठा और ममत्व एवं कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर उसने अपने अनिष्ट से लड़कर अपने पति की रक्षा करने में अपने को ही समाप्त कर दिया। क्षणिक आवेश में मनुष्य चाहे पशुता का नाट्य भले ही कर ले परंतु वह अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता। मनुष्य अंत में मनुष्य ही रहेगा।

मोंगे की घड़ी—यह कहानी मनुष्य की एक लघु दुर्बलता का चित्रण करती है। अपनी यथार्थ स्थिति का गोपन और अपने अभावों के आच्छादन की चेष्टाएँ तो मनुष्य में सहज होती हैं परंतु इसी प्रवृत्ति का यदि अधिक विस्तार हो गया तो वह एक दुर्बलता के रूप में दिखाई पड़ती है। चरित्र का यह भद्दापन यहाँ तक बढ़ जाता है कि मनुष्य बात-बात में अपनी दरिद्रता, लघुता और अभावों को अपने प्रियतम से भी छिपाने का उद्योग करता है और उसके स्थान पर संपन्नता के नाट्य का पूर्ण प्रयत्न करके अपने चारों ओर भ्रांति का खोल चढ़ा लेता है। कुछ समय तक तो ऐसा ज्ञात होता है कि उसका असत् आवरण सत्य है परंतु मिथ्या-भ्रांति अधिक दूर तक चल नहीं पाती और अंत में उसका प्रकृत स्वरूप स्पष्ट सामने आ जाता है। उस समय उसके चरित्र का खोखलापन उसकी क्षुद्रता को प्रकट कर देता है। फिर अपने प्रकृत गौरव से हीन वह मानव अत्यंत कायर, भीरु तथा मिथ्या अहंकारी के रूप में बहुत ही भद्दा मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार

उसके व्यक्तित्व का सर्वथा नाश हो जाता है और वह स्वयं अपने को धिक्कारने लगता है; दूसरों की आँखों से तो गिर ही जाता है।

चरित्र की इसी दुर्बलता का चित्रण लेखक ने विस्तार से अपने 'ग़बन' नामक उपन्यास में भी किया है उसी विषय को कहानी रूप में यहाँ रखा गया है। दरिद्र और साधारण वित्त के होने पर भी एक साहब अपनी ससुराल जाने के लिए बहुत-से लोगों से बहुत-सी चीजें मँगनी माँग लेते हैं। अपने संपूर्ण अभावों का गोपन करके अपनी ससुरालवालों के सामने संभ्रांत और संपन्न बनने का पूरा ढोंग कर लेते हैं। यों तो दानू किसी को कोई चीज़ मँगनी नहीं देता परंतु उसने भी इनकी व्यवहारकुशलता से परास्त होकर अपनी घड़ी दे दी। ससुराल में इनकी पत्नी ने बड़े आग्रह से उस घड़ी को हथिया लिया। दरिद्रता प्रकट न हो जाय इस भय से इन्होंने उससे भी अपनी सच्ची स्थिति नहीं व्यक्त की। जब वहाँ से लौटकर दानू के पास आए तो बड़े संकट में पड़ गए। उसकी इतने दामों की घड़ी की क्षतिपूर्ति के लिए इन्हें छः मास तक अपने मासिक वेतन से १५) काटकर देने पड़े। लेकिन इस घटना से एक उपकार हो गया। जो हर महीने ३०) में भी इनका खर्च बड़ी कठिनाई से चलता था वह अब १५) मासिक में बड़े संतोष के साथ चलने लगा। इनका इस प्रकार सुधार देखकर दानू ने इनके सब रुपये लौटा दिए। इस प्रकार उनके जीवन की अनेक अव्यवस्थाएँ दूर हो गईं और उनका चरित्र सुंदर हो गया।

इस कहानी में चरित्र और उपदेश की ही प्रधानता है। चरित्र की दुर्बलता के कारण एक घटना घटित हुई और उस घटना के चक्कर में पड़कर चरित्र का शोधन हो गया। मनुष्य को अपनी स्थिति के अनुसार ही चलना चाहिए। मिथ्या रूप से चरित्र का अधःपतन होता है—यह उपदेशांश है। संयोग से ही दानू ऐसे पवित्र मित्र जीवन में मिलते हैं और दूसरे के सुधार में योग देते हैं।

सुजान भगत—'वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती; सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े

महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है वह बूढ़ा भी हो तो जवान है; जिसमें लाग नहीं, ग़ैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है।' यही इस कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। ग्रामीण जीवन और मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए लेखक ने सुजान भगत में उक्त कथन का भली-भाँति चित्रण किया है। जब कोई मनुष्य को ललकार देता है, उसकी शक्ति और क्षमता का निरादर करता है और उसके न्यायपूर्ण अधिकार-पद से अपदस्थ करने की चेष्टा करने लगता है तो उसके अंतस् में प्रसुप्त बलिष्ठ भाव प्रबुद्ध और चैतन्य होकर चौगुने उत्साह से प्रकट होता है। ऐसे ही उत्साह से मनुष्य आश्चर्यचकित कर देनेवाले कार्यव्यापारों का लघु प्रयास में ही संपादन कर लेता है और प्रमाणित कर देता है कि वह आदरणीय है।

अनवरत अध्यवसाय और अथक परिश्रम से सुजान के खेतों में सोना पैदा होने लगा। फिर तो उसका धर्म-भाव जगा और वह साधु-संतों की आवभगत और तीर्थयात्रा की ओर प्रवृत्त हुआ। घर का काम-काज अपने पुत्र भोला के ऊपर छोड़ दिया परंतु कुछ ही दिनों में उसने देखा कि धीरे-धीरे घर में उसका निरादर होने लगा और लोग उसे शक्तिहीन समझने लगे। एक दिन भिखमंगे को भीख देने में ही भोला ने उसका हाथ रोक दिया। इस निरादर में उसकी पत्नी बुलाकी का भी हाथ था। यही निरादर सुजान को लग गया। फिर क्या था। उसके अंतस् में सोई कर्मवीरता पुनः प्रबुद्ध हो उठी और उसने फिर से वही अथक परिश्रम और अविरत अध्यवसाय आरंभ किया। थोड़े ही दिनों में उसने प्रमाणित कर दिया कि उसके जवान बेटे कुछ नहीं हैं और उसका खोया अधिकार-पद पुनः उसे प्राप्त हो गया। वृद्ध पिता ने युवक पुत्र को परास्त कर दिया। गृहराज्य में फिर उसकी तूती बोलने लगी।

दो सखियाँ—मानव-जीवन की अति प्रमुख एवं प्रभावशाली घटनाओं में विवाह है। इसकी मूल भित्ति धर्म है। धर्म, अर्थ और काम से तो इसका सीधा संबंध है ही साथ ही प्रकारांतर से यह मोक्ष में भी योग देता है। आजकल जिस प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष हमारे देश में

चल रहा है उसके कारण भारतीय एवं पाश्चात्य आचार-विचार रहन-सहन और धर्म-विश्वास में बड़ी खींच-तान मची है। विश्वबंधुत्व एवं राजनीतिक-सामाजिक उदारता के नाम पर अनाचार भी हमारे जीवन में प्रवेश पा रहा है। उसी प्रकार के सांस्कृतिक उथल-पुथल का प्रभाव विवाह के मूल आधार-भूत सिद्धांतों पर भी पड़ रहा है। असंस्कृत शिक्षा-वृद्धि के कारण कोमलचित्त नवयुवकों और नवयुवतियों पर इसका अनिष्टकारी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंदजी ने इसी सांस्कृतिक संघर्ष का व्यावहारिक चित्र खींचा है। विवाह-प्रथा के मूल में भारतवर्ष के अपने मौलिक तथा व्यावहारिक सिद्धांत क्या हैं; उनमें क्या सौंदर्य और लक्ष्य हैं; उसके दोष-गुण क्या हैं—इसके प्रसगयुक्त विश्लेषण का प्रतीक चंदा की मूर्ति और भावनाएँ हैं। चंदा विवाह को धर्म और कर्तव्य के रूप में स्वीकार करती है। उस कर्तव्य-पालन के मार्ग में जो बाधाएँ मिलती हैं उनका अतिक्रमण विवेक, त्याग, सेवा, कष्टसहिष्णुता और चरित्रबल के योग से बड़ी सरलतापूर्वक कर लेती है। वह 'तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती है और इसी भाव से उसका अभिवादन करती है।' वह अपनी स्वदेशी, पाँच हजार वर्षों की पुरानी जर्जर नौका पर ही बैठकर जीवन-सागर पार करना अधिक मंगलकारी एवं श्रेयस्कर मानती है।

दूसरी ओर उसकी सखी पद्मा है जो द्रुतगामी मोटर-बोट पर चढ़ कर साथ में अवसर, विज्ञान और उद्योग को लेकर चलना ही उत्तम समझती है। 'वह ईश्वर को धन्यवाद देती है इसलिए कि उसके पिता पुरानी लकीर पीटनेवाले नहीं हैं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं जिन्होंने नारी-जीवन को स्वर्ग बना दिया है।' उसके लिए भारतीय वैवाहिक प्रथा की दीवार सड़ गई है जिसकी टीप-टाप करने से काम न चलेगा और समझती है कि उसकी जगह नये सिरे से दीवार बनाने की जरूरत है। इस प्रकार उसके स्वभाव में नवीनता, प्रेम, अधिकार और अहं की प्रतिष्ठा, चपलता, उच्छृंखलता और अभिमान है। वह

पति पर सबसे अधिक अधिकार उनकी पत्नी का मानती है। वह संपूर्ण लालसाओं, काल्पनिक सुखों और भौतिक वासनाओं को लेकर विनोद की ओर दौड़ती है और उसके सर्वस्व पर एक क्षण में अधिष्ठित होने की कामना करके भी अपनी ओर से कुछ देना नहीं चाहती। उसे चारों ओर अविश्वास ही दिखाई देता है। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता में रँगी रमणी विवाह के मूल में किन भावनाओं का दर्शन करती है और उसकी विचार-पद्धति का क्या परिणाम होता है इसका उदाहरण पद्मा के रूप में दिया गया है।

इस व्यावहारिक शैली का अनुसरण करके अनुभवी लेखक ने दोनों देशों की वैवाहिक मूल भित्ति के सैद्धांतिक अंतर का मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण किया है। इसी विषय को लेकर लेखक ने प्रेम-द्वादशी में संगृहीत 'शांति' शीर्षक कहानी भी लिखी है। उन कहानियों का प्रतिपाद्य विषय है—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

<u>पिसनहारी का कुआँ</u>—मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई गोमती ने चौधरी से अपने जीवन की लालसा कही और अपनी गाढ़ी कमाई की सारी बचत उनके पास थाती की तरह सौंप गई—दो हजार रुपए। उसकी मृत्यु के बाद शुद्ध चित्त से चौधरी ने उसकी लालसा पूरी करने की ठानी परंतु परिस्थिति से प्रेरित होकर कुआँ तुरंत व[illegible] फिर क्यों। बहुत दिन समाप्त हो गए। फिर भी चौधरी का मन साफ था लेकिन उनकी पत्नी और पुत्र के फेरफार से कुआँ न बन सका। चौधरी मरे, उनकी पत्नी भी गई और अंत में पुत्र भी चल बसा, परंतु उसके मरते-मरते भी जिस लालसा को गोमती प्रकट कर गई वह पूरी न हो सकी। चौधरी की बची बचाई पुत्र-वधू भी समाप्त हो गई; पर प्रतिनिधि रूप में एक नन्हीं-सी पुत्री छोड़ गई। उस अनाथ बालिका ने बाल-प्रयास में ही एक कुआँ बनवाया। दैव की और उसके अंतस् की प्रेरणा थी। जिस दिन गोमती के खंडहर पर वह कुआँ पूरा हुआ उसी रात कुएँ पर सोई वह बालिका मर गई। वह गोमती का अवतार थी।

इस आख्यायिका में लेखक ने गीता में प्रचारित उस सिद्धांत की व्याख्या की है जो इस श्लोक में वर्णित है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिस लालसा और भावना को लेकर प्राणी प्राण त्याग करता है उसकी पूर्ति के लिए उसे पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। गोमती की लालसा पूर्ण न हो सकी थी अतएव उसे चौधरी की प्रपौत्री के रूप में पुनः उत्पन्न होना पड़ा। इसके अतिरिक्त थोड़ा उपदेशांश भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किसी दुखी को सताकर, किसी पराये का धन हड़प कर और उससे विश्वासघात करके कोई प्रसन्न और सुखी नहीं हो सकता। विश्वासघात का प्रतिफल नाश और यातना है जो चौधरी के परिवार को प्राप्त हुआ।

सोहाग का शव—अपनी प्रियतमा पत्नी सुभद्रा से अपने प्रेम में स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करके उच्च आकांक्षाओं की पूर्ति निमित्त केशव डाक्टर की उपाधि लेने के लिए विलायत गया। कुछ दिनों में ही वहाँ के जीवन में ऐसा डूबा कि घर पत्र लिखना भी बंद हो गया। सुभद्रा को संदेह हुआ और वह पतिप्रेमिका निर्भीक रमणी विलायत गई। वहाँ अपने पति को एक युवती के प्रेमजाल में फँसा देखकर पहले तो उसने व्यवधान डालने की चेष्टा की परंतु सफल न हो सकी। इस पर उसके भीतर हिंसात्मक भावनाएँ उठीं जिसके कारण उसने केशव और अपनी जीवन-लीला समाप्त करने की ठानी। ठीक अवसर पर देवत्व के जागरित होने से परिवर्तन उपस्थित हुआ और अंत में वह चरमप्रतिकार पर सन्नद्ध हो गई।

शिक्षित एवं बुद्धिमती पत्नी अपने चरित्रबल के आधार पर कितना आगे बढ़ सकती है इसका उत्तम उदाहरण लेखक ने इस आख्यायिका में उपस्थित किया है। यों सुभद्रा का कार्य-व्यापार मात्रा से कहीं अधिक बढ़ा दिया गया है जिससे यथार्थ दूर मालूम पड़ता है परंतु विषय-निवेदन अथवा सिद्धांत-प्रतिपादन में कोई अड़चन नहीं होने पाई। सुभद्रा के चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। इस विकास के अनुकूल

घटनाएँ घटित होती गईं और अंत में उसकी सफलता में बड़ी मार्मिकता उत्पन्न हो गई है। यह शुद्ध चरित्र-प्रधान कहानी का अच्छा उदाहरण है। उसी रूप में इसका विवेचन होना चाहिए।

सुभद्रा पतिपरायण, व्यवहारकुशल, स्वावलंबी, निर्भीक, विवेकशील, तत्पर एवं त्यागमयी है। चरित्र की संपूर्ण विभूतियों की प्रतिमा है। पति के हित का चिंतन कर उसे विलायत भेजती है। अपने संकुचित स्वार्थ-प्रेम के पाश में जकड़ती नहीं। उसके विश्वास-पूर्ण प्रेम में जब ठोकर लगती है तब बड़ी तत्परता से अनिष्ट को बचाने का बुद्धि-संगत उद्योग भी करती है। जब पति की ओर से अपने प्रति आक्षेपयुक्त मिथ्या आरोप की बातें सुनती है तब रमणी-सुलभ अभिमान, अमर्ष और हिंसात्मक भावुकता उत्पन्न होती है। केशव के साथ अपनी जीवनलीला भी समाप्त करना चाहती है परंतु इस भावना के मूल में भी ममत्व ही है। वह त्याग, विरक्ति, निराशा को ही अपनाकर भारतीय पत्नीत्व की गरिमा निबाहती है। उसका यह विरोध सात्त्विक, मंगलमय और उदात्त है।

आत्मसंगीत—जो गद्य-लेखक कभी कविता नहीं लिखता उसे भी यदि रहस्यवादी कविता लिखने की उमंग आ ही गई तो वह अंतस् की प्रेरणा से गद्य में ही कविता बनाने लगता है। इस प्रकार की तरंग जितनी ही कम उठे उतना ही अच्छा है क्योंकि न तो उसे शुद्ध कविता और न शुद्ध भावात्मक कहानी ही कह पाते। प्रेमचदजी की भाँति प्रतिभा-संपन्न लेखक तो कुछ-न-कुछ सुंदर कह ही डालेंगे परंतु कोरे नकालची यदि उनका अनुकरण करने पर कमर कसेंगे तो अवश्य ही भँड़ोवापन सामने ला खड़ा करेंगे, जैसा दो-एक ने किया है।

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंदजी ने एक आध्यात्मिक रहस्य का तात्त्विक प्रतिपादन किया है। रानी ने जिस दिन मंत्र-दीक्षा ली उसी रात्रि में एक दार्शनिक घटना घटी। नीरव रात्रि में सहसा एक मधुर संगीत उसे सुनाई पड़ा। उस संगीत की अलौकिकता ने उसके भीतर ऐसा प्रबल भावावेश उत्पन्न किया कि बिना इस संगीत के समीप पहुँचे उसके प्राण निकल रहे थे। अपने जीवन की संपूर्ण भौतिकता का नाश करके भी

वह उसे प्राप्त करना चाहती थी। उसका व्यक्तित्व, उसका सर्वस्व संगीत
की मधुरिमा में डूब गया और उसे अपनी संज्ञा का भी ज्ञान न रह
गया। ऐसे आध्यात्मिक तादात्म्य एवं तल्लीनता की स्थिति में उसे ज्ञात
हुआ कि वह स्वयं उस संगीत की जननी है। वह अलौकिक स्वरलहरी
उसी के मानस-लोक से निरंतर प्रवाहित हो रही है।

इस कहानी में दार्शनिक भाव की वेदना और उससे ओतप्रोत
संपूर्ण अंतस् की विशिष्ट प्रेरणा का सुंदर प्रभाव दिखाया गया है।
भावुक हृदय के अत्यंत प्रबुद्ध हो उठने पर बौद्धिक चेतना नितांत बलहीन
होकर सुषुप्ति की स्थिति में आ जाती है; परतु उसी भाव-प्रवणता के
अतिरेक के डूबते ही चेतना का उदय निर्मल ढंग से होता है और यथार्थ-
ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक और भक्त को जैसे ही इष्ट एवं साध्य के
तादात्म्य का बोध होता है वैसे ही वह संप्रवुद्ध होकर स्थिर हो जाता है
और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व साध्य के ही अनुरूप अलौकिक हो उठता है।
पार्थक्य-मूलक अज्ञानावस्था का चित्रण कबीर के इस दोहे में स्पष्ट है—

सो साईं तन में बसै ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी के मिरिग ज्यों सूँघै फिरि फिरि घास॥

ऐक्ट्रेस—तारा को रंगमंच पर शकुंतला का अभिनय करते देखकर
निर्मलकांत उससे प्रेम करने लगता है और अनुकूल स्थिति उत्पन्न करके
अपने हृदय का भाव उससे प्रकट भी करता है। तारा इसे स्वीकार करती
है और निर्मल विवाह के लिए उद्यत होता है। उसकी सचाई और निर्म-
लता का ऐसा प्रभाव तारा पर पड़ा कि उसके जीवन में परिवर्तन हो उठा।
उसको अपने सौंदर्य और जीवन का खोखलापन बहुत ही हीन मालूम
पड़ा। सच्चेपन के सामने उसका बनावटी आचरण न टिक सका।
निर्मल का सच्चा प्यार पाकर वह भी उसे हृदय समर्पित कर बैठी। प्रेम
के उभय पक्ष में स्थिर होते ही तारा में सत्य का रूप चमका और उसने
अपने मिथ्या व्यवहार के लिए प्रायश्चित्त करने का विचार किया।
प्रत्यक्ष में नहीं तो एक पत्र में ही अपनी स्थिति स्पष्ट करके आत्मसमर्पण
करती हुई सर्वदा के लिए वह स्थान छोड़कर चली जाती है।

'प्रेम सत्य है—और सत्य और मिथ्या, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।' मूलतः यही कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। निर्मल सत्य का और तारा मिथ्या का रूप है। सत्य-प्रेम की प्रतीति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय मिथ्या-माया से संबद्ध भौतिकता की ओर ले जानेवाली क्षणिक भावनाएँ—लालसा, विलास, कुतूहल और अहंकार—तिरोहित हो जाती हैं; मानव-मानस शुद्ध एवं निर्मल हो उठता है और उसमें संकुचित स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। परिणाम-रूप में उदारता, उत्सर्ग और स्थिरगांभीर्य का ही पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो जाता है। उस समय प्रिय पक्ष की प्रधानता तथा अपने पक्ष की नगण्यता ही सर्वोपरि दिखाई पड़ने लगती है।

———

गोदान

हिंदी की उपन्यास-रचना के क्षेत्र में प्रेमचंद का स्थान विशेष महत्त्व का है और उनकी अंतिम कृति 'गोदान' का सर्वोपरि। यह उपन्यास अपने ढंग का अद्वितीय ग्रंथ है। अभी तक लिखे गए हिंदी के समस्त उपन्यासों का यदि वर्गीकरण किया जाय तो 'गोदान' के लिए ही केवल एक पृथक् वर्ग की संज्ञा निर्धारित करनी पड़ेगी क्योंकि उसे अन्य किसी वर्ग के अंतर्गत रखने में क्रियाकल्प अथवा रचना-विधान-संबंधी अनेक अवरोध उत्पन्न होंगे। उसका सारा ढाँचा ही निराला है और उसमें प्राप्त विशेषताएँ किसी दूसरे उपन्यास में नहीं दिखाई पड़ेंगी। टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' (वार ऐंड पीस) की जो प्रशस्ति विविध समीक्षकों ने प्रस्तुत की है* उसके अनुरूप सभी गुण-धर्म हिंदी के इस महाकाव्यात्मक

"I think Tolstoy's *War and Peace* is the greatest novel. No novel with such a wide swecp, dealing with so momentous a period of history and with such a vast array of characters, was ever written before, nor, I surmise, will ever be written again. It has been justly called an epic. I can think of no other work of fiction that could with truth be so described."
—W. Somerset Manghom.

"A complete picture of human life. A complete picture of the Russia of that day. A complete picture of what may be called the history and struggle of peoples. A complete picture of everything in which people find their happiness and greatness, their grief and humiliaton. That is *War and Peace*.
—Strakhov.

उपन्यास में प्राप्त होते हैं। उक्त रूसी रचना में देश और काल की ऐसी व्यापक और साथ ही परिपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है कि उसके द्वारा तत्कालीन रूस का अनन्य और सच्चा प्रतिनिधित्व हो जाता है और इसी को उसके कृतिकार ने अपना चरम साध्य माना है।

'गोदान' में प्रेमचंद का भी प्रयास इसी पद्धति का हुआ है। यही कारण है कि साध्य-भेद से संपूर्ण साधनों में भी नवीनता उत्पन्न हो गई है। क्रियाकल्प का वह रूप जो लेखक की अन्य अनेक कृतियों में दिखाई पड़ता है इसमें नहीं मिलता। इसीलिए सामान्य हिंदी के आलोचक इस रचना की अंतःशयिनी प्रवृत्तियों का ठीक से उद्घाटन नहीं कर सके और किसी निर्दिष्ट आधार पर उसकी विवेचना न हो सकी। साधारणतः तो यही होता है कि किसी विशेष पात्र को केंद्र में स्थापित करके उसके जीवन का ऐसा प्रवाह उपन्यास में दिखाया जाता है कि विभिन्न परिस्थितियों के घातप्रतिघात में पड़कर उसकी एक अथवा अनेक मनःस्थितियाँ अथवा शील-वैचित्र्य किसी सुनिश्चित योजना-क्रम से विकसित होता है, इसीलिए ऐसी रचनाओं में मुख्यतः आधिकारिक कथा के योग में अन्य अनेक सहायक और प्रासंगिक इतिवृत्त आते और उसी में विलीन हो जाते हैं। शील-उद्घाटन के विचार से भी ऐसी कृतियों में किसी मुख्य

मेरे विचार से टाल्सटाय का 'वार ऐंड पीस' सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। न तो पहले कभी इतने व्यापक क्षेत्र को लेनेवाला और इतिहास के ऐसे महत्त्वशाली-काल का विवेचन करनेवाला तथा चरित्रों के ऐसे विशाल समुदाय से युक्त कोई उपन्यास लिखा गया और न मेरे विचार से कभी लिखा ही जायगा। इसे उचित ही महाकाव्य कहा गया है। मेरे ध्यान में ऐसी कोई अन्य कथाकृति नहीं आती जिसे वास्तविक रूप में ऐसा कहा जाय।

—डब्लू० समरसेट मौंघम

'वार ऐंड पीस' है—मानव-जीवन का पूर्ण चित्र, तत्कालीन रूस का सांगोपांग चित्र, जनता के संघर्ष और इतिहास का संपूर्ण चित्र; जहाँ जनता अपना सुख और महत्ता पाती है, अपनी वेदना और अवमानना पाती है—ऐसा पूर्ण चित्र।

—स्ट्रेखोव

पात्र के इतिहास एवं स्वरूप-संगठन के निमित्त अन्य अनेक पात्र अपने-
अपने क्रिया-कलाप संपादित करते और व्यक्तिगत विशेषताएँ झलकाते
हुए उसी आधिकारिक नायक के व्यक्तित्व-स्थापन में नियोजित दिखाए
जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण रचना का अंत किसी एक फल-प्राप्ति,
सिद्धांत-ध्वनि अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठा में होता है। स्वयं प्रेमचंद के अन्य
सभी उपन्यासों में यही पद्धति अपनाई गई है।

'गोदान' में आकर ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अनुभवी कृति-
कार ने अपना सारा ढाँचा बदल दिया है और एक सर्वथा नवीन पद्धति
अपनाई है। यह नवीनता केवल क्रियाकल्प तक ही परिमित नहीं है
और केवल वस्तुविन्यास एवं चारित्र्योद्घाटन में ही नहीं मुखरित है
अपितु जीवन के अंतर्भूत सिद्धांतों तथा जगत् के व्यवहार में स्थापित
मान्यताओं पर भी अपना प्रभाव डालती दिखाई पड़ती है। जो प्रेमचंद
'सेवासदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक किसी न किसी आदर्श प्रचार में
व्यस्त रहे और निरंतर एक विशेष प्रकार के जीवन-दर्शन की स्थापना में
ही साहित्य का चरम लक्ष्य देखते रहे वही 'गोदान' में पहुँच कर जैसे
उदारबुद्धि, सहिष्णु और समन्वयवादी बन उठे हैं। 'ग़बन' में रमानाथ
की प्रकृत जीवन-धारा और सामाजिक संगठन के भीतर जब अपनी
जोहरा बाई की सुगम व्यवस्था नहीं कर सके तो बेचारी को जलधारा
में विलीन कर दिया। सुमन के लिए समाज के सामान्य प्रसार में कहीं
स्थान एवं रंध्र न ढूँढ़ सके तो एक सुधारगृह और सेवासदन की ओर
उन्मुख हुए। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में न
जाने कितनी असम परिस्थितियों का निर्माण तो कर गए पर अपने पूर्व-
निश्चित आदर्श-प्रेम में उन्हें व्यवस्था न दे सकने के कारण विकृत कर
दिया। इस विकृति के मूल में उनकी आदर्शोन्मुखता का आग्रह उस
समय स्पष्ट हो उठता है जब 'प्रसाद' की भाँति वे पात्रों का लगते हैं
वध करने। 'सेवासदन' का कृष्णचंद्र, 'ग़बन' की जोहरा डूब मरती
है, और 'प्रेमाश्रम' की गायत्री पर्वत पर से कूद पड़ती है और 'रंग-
भूमि' का विनय तो गोली मार लेता है। इस प्रकार निर्मम हत्याएँ

प्रेमचंद की आदर्श भावनाओं की देन हैं। 'गोदान' में इस पूर्वपरिचित पद्धति का सर्वथा त्याग दिखाई पड़ता है। तात्पर्य कहने का यह है कि इस अंतिम रचना में आकर लेखक अपनी पूर्व कृतियों का सिंहावलोकन कर एक नवीन योजना की ओर बढ़ा है। प्रेम-क्षेत्र में पहले वे रमानाथ और जोहरा का संबंध नहीं चला सके थे, इसी प्रकार 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में न जाने कितनी प्रेमार्द्र कृतियाँ रचकर उन्होंने स्वय विनष्ट कर डालीं पर 'गोदान' में योग पाकर पं० मातादीन और सिलिया चमारिन, झिंगुरीसिंह और ब्राह्मणी, मेहता और मालती इत्यादि की व्यवस्था कर ही दी।

आदर्श-प्रचार और जीवन-दर्शन के विषय में भी 'गोदान' में एक विशेष प्रणाली काम में लाई गई है। वहाँ न तो सेवासदन और प्रेमाश्रम स्थापित कराया गया है और न किसी रंगभूमि और कर्मभूमि की कल्पना को ही प्रसार दिया गया है। इस गोदान की वेला में पहुँच कर लेखक ने अच्छी तरह समझ लिया कि समाज-सुधार, हिंदू मुस्लिम-ऐक्य, धनिक-श्रमिक-संघर्ष, कृषक-जमींदार-विरोध इत्यादि जटिल प्रश्नों पर अभी तक वह जो कुछ लिखता आया है कुछ सफल नहीं हुआ भले ही राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक आधारभूमि के निर्माण एवं परिष्कार का काम होता गया हो। यों तो भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के आंदोलन के सक्रिय-युगारंभ से ही प्रेमचंद का साहित्यिक कृतित्व भी उद्भूत हुआ था और राजनीतिक एवं सामाजिक जागरण का प्रतिनिधित्व वे सर्वदा करते आ रहे थे पर अंत में आकर जैसे थककर अथवा पराजित होकर उन्होंने अपना पहलेवाली मान्यताओं में परिवर्तन की आकांक्षा स्वीकार की हो। यही कारण है कि 'गोदान' की पृष्ठभूमि में कोई सुनिश्चित प्रचार-पक्ष मुखरित नहीं है। अवश्य ही मेहता और मालती कुछ क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं और ग्राम-नगर के आदान-प्रदान और सुधार-परिष्कार की ओर प्रवृत्त भी हुए हैं पर वह सब केवल दो भिन्न क्षेत्रों में एक संबंध-सूत्र स्थापित करने की बौद्धिक और क्रियात्मक चेष्टा का प्रतीक है। 'दोनों एकात्म होकर प्रगाढ़ आलिंगन में बँध' जायँ इस

स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के लिए ही ग्राम-मैत्री सजाई गई है।

'गोदान' में न तो लेखक का लक्ष्य कथा-प्रसंग था और न किसी
व्यक्तिगत शील के वैचित्र्य का ही वह निरूपण करना चाहता था; उसका
ध्यान न तो किसी घटना की ओर था और न वह किसी पूर्वनिश्चित
सिद्धांत-स्थापन में ही तत्पर दिखाई पड़ता। इसके पूर्व की अपनी अन्य
रचनाओं में वह इस प्रकार की सभी साहित्यिक आकांक्षाओं की मूर्तियाँ
स्थापित कर चुका था। अतएव 'गोदान' में वह स्वच्छंद, स्वतंत्र और
निरुद्देश होकर केवल जीवन और जगत की सामयिक अभिव्यक्ति को
ही अपना चरम साध्य स्थिर कर लेता है और मानवीय सुकृत-दुष्कृतों
को खुल-खेलने का पूर्ण अवसर देता है। इसी की यथार्थता और सजी-
वता को सुस्पष्ट करने के लिए उसने अत्यंत विस्तृत एवं उन्मुक्त क्षेत्र चुन
लिया है। यह क्षेत्र देश-काल के संश्लिष्ट चित्रण के लिए सर्वथा उपयुक्त
और पूर्ण दिखाई पड़ता है। इसकी परिधि के भीतर जीवन और जगत्
की अनेकरूपता, वैलक्षण्य और सभी प्रकार की उच्चावचता स्फुट हो
गई है। यहाँ जीवित समाज और व्यक्ति का प्रकृत स्वरूप तो चित्रित है
ही साथ ही उनकी आकांक्षाओं और आदर्शों की भी पूरी झलक मिल
जाती है। एक ही चित्रपट पर भारतवर्ष की सारी सजीव विविधता
और संपूर्णता अपने स्वरूप की स्थापना यथास्थान करती दिखाई पड़ती है,
जीवन की इस सुसंबद्ध एकता की पूर्ण अभिव्यक्ति को ही इस उपन्यास
में लक्ष्य बनाया गया है। उपन्यास-रचना के अन्य सभी तत्त्वों पर लक्ष्य
की इसी ऐकांतिकता का प्रभाव भर उठा है। इस कृति के भीतर उप-
न्यासकार की बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

'गोदान' में आकर प्रेमचंद ने अपनी पहले की संपूर्ण साहित्य-
साधना का साररूप प्रस्तुत किया है। रचना-कौशल से संबंध रखनेवाला
जितना भी विधान पहले प्रयुक्त हो चुका था उसका सार किसी न
किसी रूप में इस उपन्यास में मिल जाता है। कथावस्तु, चरित्र, संवाद
और परिस्थिति-योजना इत्यादि उपन्यास-रचना के जो भी सामान्य
प्रयोग प्रेमचंद पूर्ववर्ती कृतियों में कर चुके थे

उसकी छाप अथवा छाया इस वृहत् रचना में सुरक्षित मिलती है। साथ ही वैयक्तिक अथवा सामाजिक जिन मान्यताओं, आदर्शों अथवा सिद्धांतों की विवेचना वे पहले के उपन्यासों में कर चुके थे उनका भी परिमार्जित स्वरूप 'गोदान' में यथास्थान मिल जाता है। थोड़े में कह सकते हैं कि लेखक की यह अंतिम कृति उसकी साहित्यिक वैयक्तिकता का सारांश रूप है उसकी उपन्यास-रचना की प्रौढ़ता और उसके संपूर्ण बौद्धिक गठन का सच्चा प्रतिनिधित्व इस उपन्यास से हो जाता है। इस संबंध में ध्यान देने योग्य एक बात और है। गुणों के साथ दोषों का भी विकास होता गया है। विन्यास-संबंधी जो दोष प्रेमचंद की आरंभिक कृतियों में मुकुलित हुए थे अथवा चरित्रांकन में जो रंगों का आधिक्य अथवा चटकीलापन पहले दिखाई पड़ता था वह 'गोदान' वेला तक चला आया है। इस विचार से प्रेमचंद में नवोन्मेष का पक्का अभाव था—वस्तुसंकलन में भी और रचना-विधान में भी।